॥ श्रीहरिः ॥

श्रीरासलीला विरोध परिहार।

यदुवंशावतंसाय वृन्दावनविहारिणे
संसारसागरोत्तारतरये हरये नमः

श्रीकृष्णावतार निर्णयमें विरोधका परिहार करनाभी एक उसीका अंश है, अत एव वह भी एक अवश्य कर्तव्य है। श्रीकृष्णके स्वरूप, लीला और माहात्म्य तीनोंमें आपाततः विरोध और आशंकायें होसक्ती है और होरही है इसलिये उनको उचित और निःशंक रूपमें उपस्थित कर और उनका सप्रमाण परिहार करना प्रत्येक सनातनधर्मानुयायी विद्वान् का कर्तव्य है। श्रीकृष्णावतारके स्वरूपमें जो विरोध आते थे उनका सप्रमाण परिहार हम स्वरूपनिरूपणके साथही करचुके। अब यहां श्रीकृष्णकी लीलाओं पर जो आशंका होती हैं या उनमें जो विरोध आते है उनका परिहार करना है।

भगवान्के ऐसे बहुतसे चारित्र हैं जिन पर साधारण मनुष्योंको कुछ न कुछ प्रष्टव्य होसक्ता है किन्तु उनमें प्रधान लीला तीनहै चीरहरण लीला, रास लीला और कुब्जासंभोगलीला। इन तीनों पर साधारण जन समाजका हीं नही किन्तु कभी कभी आस्तिक विद्वानोंकाभी हृदय संदिग्ध हो उठता है।

अपने आपको और आत्मीयों को आनन्दित करने के लिये जो अनायास क्रीडाऐं (चरित्र) की जाती है उन्हे लीला कहाजाता है । श्रीमद्भागवतके देखने से स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण की रास लीला भी उसी प्रकार का एक भगवच्चरित्र है । रासलीलाके विषय में लोगों को बहुतसी आशंकाऐं है । विरोध भी वस्तुपरीक्षाका एक अङ्ग होसक्ता है । विरोध हुए विना वस्तुकी परीक्षामें श्रेष्ठता नहीं आती । माटीके घडके पेट पर परीक्षक लोग जो एक अंगुली का टकोरा मारते हैं, वहभी उसके पेटका एक तरहका विरोधही है, किन्तु उस टकोरे से उस घडेकी निर्दोषता और उत्तमता सिद्ध होजाती है । इसी प्रकारसे भगवल्लीलाओंपर यदि विरोध हों और आशंकाऐं की जांय और फिर उनका सप्रमाण परिहार हो जाय तो इससे उनकी निर्दोषता और उत्तमता ही सिद्ध होगी ।

किन्तु विरोधका उद्देश्य सत् होना चाहिये । घडे पर यदि कोई बडे जोरसे डंडा मार बैठे तो उसका उद्देश्य सत नही है यह निश्चय है । और ऐसी अवस्थामें वह घडे की परीक्षा करने वाला नही कहा जासक्ता । जो लोग वस्तुके स्वरूप को न समझकर या उसके स्वरूप या आस्तित्व का ही नाश करदेनेके उद्देश्य से विरोध या आशंकाऐं करते है उन्हे हम परीक्षक सदृश महत्पद नही देसक्ते ! और उनके लिये परिहारकी आवश्यकताभी नहीं । किन्तु जो विद्वान वस्तुके स्वरूपको समझकर या समझनेकी इच्छा रखकर विरोध या आशंका करता है, यह निश्चय है कि उसका वह विरोध या आशंका दूसरों पर उस वस्तुकी उत्तमता को प्रकट करने के लिये ही होता है । श्रीकृष्णकी रासलीला पर राजा परीक्षित ने

भी आशंका की है । राजा परीक्षित श्रीकृष्णस्वरूपकी और उनकी रासलीलाके स्वरूप की उत्तमताको समझता है तथापि उसने प्रश्न किया है वह इस लिये कि आधुनिक किंवा अग्रिम ईस लीलाके सब श्रोतृगणों के हृदय में भगवच्चारित्रकी निर्दोषता और उत्तमता बैठजायगी। राजा परीक्षितकी आशंका स्पष्ट अक्षरो में है और उसका उत्तरभी श्रीशुकाचार्य ने उतने ही स्पष्ट और विस्तृत अक्षरो में दिया है । राजा परीक्षित और श्रीशुकदेवजी का यह परस्पर प्रश्नोत्तर, रासलीला के विषयमें निःशंक होनेके लिये या रासलीलाकी उत्तमता समझनेके लिये इतना पर्याप्त है कि इसको अच्छी तरह समझलेनेके बाद सत्पुरुषके हृदयमें फिर किसी तरहभी दुर्भावना या आशंका बाकी नहीं रह सक्ती । और इसी लिये श्रीशुकदेवजीने रासलीलाकी फलश्रुतिमें कहाहै कि (**हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः**) अर्थात् जो धीरपुरुष इस रासलीलाको ध्यान देकर सुने तो थोडे ही समयमें अपने हृदयके स्वाभाविक कामादिक और आगन्तुक रोग (आशंका किंवा दुर्भावना) को निवृत्त कर देता है ।

श्रीमद्भागवत पर बहुतसी टीकाऐं है । उनमें कितनी ही टीकाऐं कथाभागको बड़ी उत्तमता और अलंकार पूर्वक समझाती हैं किन्तु कोई कोई टीकाकृत् कथाभागके सिवाय भागवतशास्त्रके गूढसिद्धान्तको क्रम और प्रमाण सहित निःशंक प्रकाशित करते है। ऐसी टीकाको टीका न कहकर यदि भाष्य कहा जाय तोभी अत्युक्ति न होगी । भागवतकी टीकाओंमें श्रीसुबोधिनी नामक टीका इसी प्रकारकीहै । मेरी इच्छाहै कि मैं ऐसी टीकाओंके आधार पर ही राजा परीक्षित और श्रीशुकदेवजीके प्रश्नो-

त्तरको लेकर रासलीलापर आते हुए विरोधका परिहार करनेका प्रयत्न करूं । श्रीकृष्णकी रासलील श्रीमद्भागवतके निरोधस्कंध (दशमस्कंध) में है ।

श्रीमद्भागवतका नाम सिद्धान्तके अनुसार समाधिभाषा है । और इस समाधिभाषाके अधिकारस्कंध, श्रवणाङ्गस्कध सर्गस्कध, आदि १२ स्कंध है । उनमें दशमस्कध का नाम निरोधस्कध है । दशमस्कंध नाम तो संख्यानुसारहै । निरोधस्कंधमें केवल श्रीकृष्णलीलाओंका ही संग्रह है । श्रीकृष्णकी लीलाओं (चरित्रों) का रूढ नाम निरोधहै । नितरां रोधोयैर्याभिर्वा, तानि ता वा निरोधाः, निरोधानां स्कधः निरोधस्कंधः । जिनके श्रवण मनन करनेसे मनुष्य श्रीकृष्णके प्रेममें एकदम लीन होजावे उनको निरोध कहते है । इस दशमस्कंधमें वर्णित भगवच्चरित्रोंके श्रवणसे आस्तिक मात्रका हृदय भगवत्प्रेममें मग्न हो जाताहै इसलिये इस स्कध और इन लीलाओं का नाम निरोधहै । श्रीकृष्णकी रासलीला भी निरोध है। मनुष्यमात्रका हृदय और ज्ञान स्वाधिकारानुसार परिस्थितिमें रहताहै इसलिये ईश्वर चरित्र पर उसे सन्देह होना स्वाभाविकहै । कहने का आशय यह है, मनुष्यकी उच्चमें उच्च सभावित परिस्थिति से सर्वथा पृथक् परिस्थिति ईश्वरकी होतीहै, और ऐसी अवस्था का अनुभव करने लायक जीवका हृदय और ज्ञान होतानही इसलिये उसे भगवच्चरित्रोंपर सन्देह हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहींहै। रासलीला परभी इसीलिये सन्देह होताहै। एक बात और है, " **परोक्षप्रिया इव वै देवाः** " श्रु. " **परोक्षं च मम प्रियम्** " भा.। जो बात ढकी हुई कही जातीहै वह देवताओं को प्यारी लगती है, अतएव भगवान् आज्ञा करते है कि परोक्षकथन मुझेभी अ

च्छा लगताहै। अतएव वेदपुराणादिशास्त्रोंमें भाषात्रय द्वारा छुपी हुई बातें बहुत कहीगई है, इससे भी सन्देह होना सहजहै। तीसरी बात यह है श्रीमद्भागवतमें कई कल्पोंकी कथाओंका संग्रह करके अपनी भाषाओं के द्वारा भगवच्चरित्रोंका वर्णन है इसलिये भी संदेह होसक्ताहै। और फिर विशेषमें यह है कि अष्टादश सहस्र होने परभी श्रीमद्भागवतमें अतिसंक्षेपसे भगवच्चरित्र कहेगये है। संक्षिप्तमें सन्देहहोना संभवहै।

बहुतसे विरोध तो समाधिभाषा परमतभाषा और लौकिकीभाषाओं के विभेदको जाननेसे जाते रहतेहै। और कितनेही विरोध कल्पभेदको जान लेनेसे निवृत्त होजातेहै। और बहुतसे सन्देह या आशंकाएँ ऐसी होती है कि जो ग्रन्थका आशय यथार्थरीतिसे न जानने और न सुनने से ही पैदा होतीहैं। जब पूर्वापरग्रन्था नुसन्धानपूर्वक ग्रन्थाशयको यथार्थरीतिसे समझ लेतेहै तो सब सन्देह और आशकाऐं अपने आप दूर हो जाती है। श्रीकृष्णकी रासलीलाके विरोध का भी यही हाल है। श्रीमद्भागवतमें ही रासलीला के विरोधोंका समाधान अन्तर्हित है। यदि पूर्वापरानुसन्धानपूर्वक ग्रन्थका विचार किया जाय तो कोई विरोध या आशंका अवशिष्ट नहीं रहती। मै भी रासलीलापर आते विरोधका परिहार, रासलीला निरूपक ग्रन्थसे ही अर्थात श्रीमद्भागवतके ही द्वारा करना चाहता हूँ।

यद्यपि वेद गीता और पुराणान्तरोंसेभी रासलीला विरोध परिहार होसक्ताहै, किन्तु मुझे प्रधानतया श्रीमद्भागवतसे ही विरोधनिरास करना कुछ श्रेष्ठ लगताहै। एकग्रन्थका दूसरे ग्रन्थसे विरोधपरिहार करना यह मेरी समझसे उस ग्रन्थको कुछ असमर्थ दिखानाहै। श्रीमद्भागवतमें सब

कुछ है। श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णकाही रूपान्तरहै। श्रीकृष्णके माहात्म्यों का प्रदर्शन और उनके स्वरूप तथा चारित्रों पर आते हुए भ्रमोंका परिहार जब हम उनके स्वरूपसेही करनेमें समर्थ होतेहैं तो फिर श्रीमद्भागवनके किसी स्थलपर आतेहुए विरोधों का निरास भी हमें उसके द्वारा ही करना उचितहै, और होताभी है। फिर उसे छोडकर अन्यत्रसे थेगडी लगाते फिरना ठीक नही मालुम देता। बहुतबडी पुस्तक न हो नहो, छोटी सी भी बात यदि मार्मिक कहीजाय और सच्ची हो तो वहभी सहृदयों को सन्तोषावह होती है।

रासलीलाके विषयमें लोगोका प्रायः यह आक्षेपहै कि "जो श्रीकृष्ण परमात्मा धर्मस्थापनके लिये प्रकट हुएहैं, उन्होंनें परस्त्रीगमन करके धर्मका नाश ओर अधर्मका स्थापन कैसे किया"। रासपंचाध्यायी के प्रारम्भमें राजा परीक्षितने भी इस लोक प्रश्नके अनुसारहि प्रश्न कियाहै।

संस्थापनाय[1] धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः॥
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद्ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्॥

---

१ अवताराविरुद्ध लोकविरुद्ध प्रमेयविरुद्धं चेति। तादृशकरणे अवश्य हेतुर्वक्तव्यः। तदभावेपि लीलाया सिद्धत्वात्। तत्र प्रथममवतारविरोधमाह-धर्मसंस्थापनाय भगवदवतारः। "धर्मसंस्थापनार्थायेति वाक्यात् (गीता) अधर्मनिवृत्तये च। तदुभयार्थं नेव भगवदवतारः। दैत्यादिवधो भूभारहरण च अधर्मनिवृत्तये। एतदर्थमेवावतारः नान्यार्थमिति हि शब्द आह॥ २७॥

धर्ममर्यादापालकाना निर्माता। स्वय वक्ता च। उपघातेऽभिरक्षिता च।

श्रीसुबोधिनी।

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् ।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥

(श्रीमद्भा. १० स्क सुबो. अनुसार अ ३० श्लो २७-२८-२९)

अक्षरार्थ ।

हे ब्रह्मन्ः धर्मकी परिस्थितिको यथावस्थित करने के लिये और अधर्मके अभ्युत्थानको प्रशान्त करने के लिये, अर्थात् धर्मकी रक्षा और अधर्मकी निवृत्ति के लिये ही जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने अंश सहित अवतार लियाहै तो फिर धर्ममर्यादाओंके निर्माणकर्ता, उनके वक्ता और रक्षाकर्ता श्रीकृष्णने धर्ममर्यादासे बिलकुल प्रतिकूल यह परस्त्रियों (गोपीयों) का संभोग कैसे किया । एक बात और भीहै कि यादवों के पति श्रीकृष्ण परब्रह्म होनेसे आप्तकाम थे फिर उन्हों ने परस्त्रीगमनरूप निन्द्य कर्म क्यों और किस अभिप्रायसे किया, यह हमारा सन्देह आप दूर करो । २७–२८–२९

तादृशः प्रतीप प्रतिकूलमाचरत् । धर्मो नष्टः, अधर्मः स्थापितः । अधर्मः कृतः, उक्तः रक्षितश्च । ‧ ‧‧ ‧ ये पञ्च पदार्था उक्ताः, तेषां स्वरूपमेकत्रैवेति तन्निर्दिश " ति " परदाराभिदर्शनमिति " ॥ २८ ॥

स्वत एवाप्ता कामा येन । तादृशोऽपि भूत्वा जुगुप्सित लोकानिन्दितं कृतवान्, तत्र करणे कोऽभिप्राय । विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेऽपि प्रयोजन वक्तव्यम् । नैतत्कर्म लोकहितम् । नापि स्वहितम् । स्वस्य पूर्णत्वात् । लोकस्य मर्यादैव हितकारिणी, तथा गो " पिकानामपि " किंच सुव्रत ? हे सदाचारलक्षण व्रतयुक्त ? यदीदमसङ्गतमिव स्यात्, त्वया नोक्त स्यात् यदि वा अधर्मः स्यात्तव रुचिर्न स्यात् प्रतीयते च विपरीतम्, अतो निर्ण यो वक्तव्यः ॥ २९ ॥

श्रीसुबोधिनी ।

प्रश्नका खुलासा अभिप्राय ।

हे ब्रह्मन् ! मेरे पूछने का तात्पर्य यह है कि जगदीश्वर श्रीकृष्णने जो यह गोपस्त्रियोंका संभोग किया यह धर्मविरुद्धाचरण तो है ही, पर मुझे तो मालुम होताहै कि यह कर्म अवतारके विरुद्ध, लोकवेदसे विरुद्ध, और प्रमेय (श्रीकृष्णके अपने स्वरूप) से भी विरुद्ध है ।

भगवदवतारका कार्य धर्मका स्थापन और अधर्मकी निवृत्तिहै, श्रीकृष्ण ने तो अवतार लेकर धर्मका नाश किया और अधर्मकी प्रवृत्ति की, इसलिये यह उनका कार्य अवतार से विरुद्ध है ।

लोक और वेदमें परस्त्रीका गमन निषिद्धहै निन्दित है और वही कार्य श्रीकृष्णने किया इस लिये यह श्रीकृष्णका चरित्र लोकवेदसे भी विरुद्धहै।

सर्व शास्त्रोंका ऐकमत्येन प्रमेय श्रीकृष्ण हैं, क्योंकि परब्रह्म है । परब्रह्म को वेदादि शास्त्रोंमें लौकिक काम रहित पूर्णकाम आप्तकाम अत एव निर्दोष कहाहै, ऐसे होने परभी श्रीकृष्णकी यह रासलीला तो कामलीला है इस लिये यह कार्य अपने स्वरूपके (प्रमेयके) विरुद्ध भी हुआ है ।

इस प्रकार अवतार विरुद्ध लोकवेद विरुद्ध और स्वस्वरूपविरुद्ध जो यह कार्य किया तो इसका कारण तो अवश्य होगा, वह कौनसा प्रयोजन है सो आप मुझे समझाइये । यदि आप कहैं कि यह तो एक भगवान् की लीला है तो कहना पडेगा कि इस कार्यको बचाकरभी रासलीला तो होसक्तिथी फिर यह क्यों किया ? । धर्मस्थापन और अधर्मकी निवृत्ति ही अवतारका मुख्य प्रयोजन है वे दोनो कार्य श्रीकृष्णने दैत्य वध आदि करके पूरे किये । श्रीकृष्णके माहात्म्य प्रकाशक अन्य चरित्रों से यहभी

स्पष्ट होरहा कि वे भगवान् एवं जगदीश्वर हैं अशक्य कार्य करने के सब साधनभी उनके समीप पूर्णथे । और जगदीश्वर होने से ही जगतकी सब मर्यादाओं की रक्षा करना उनका कर्तव्य (धर्म) था । ऐसी अवस्थामें फिर उन्हे यह परदाराभिमर्शन (परस्त्रीसंभोग) करनेकी क्या आवश्यकता थी यह मुझे बडा सन्देह है । परदाराभिमर्शन कार्यके गर्भमें ही धर्मनाश अधर्मस्थापन, अधर्माचरण, अधर्मकथन, और अधर्मरक्षण, ये पांच कार्य अपने आप आजाते है तो क्या अब इसका यह अर्थ लिया जाय कि भगवान् श्रीकृष्ण आये थे किसी अन्य प्रयोजन के लिये और कर दिया कुछ औरका और, वह क्या ?

यदि कहो कि श्रीकृष्णने यह काम किसी कामना (मतलब) से ही किया होगा तो भी ठीक नही क्यों कि परब्रह्म अवाप्त समस्तकाम पूर्णकाम अत एव निष्काम होता है, श्रीकृष्ण परब्रह्म है अत एव सर्वथा काम रहितहै, उनमें कामना होना असम्भव है । निष्कामता और सकामता दोनों परस्पर धर्म एक में नही होसक्ते । यदि कहो कि " **अणोरणीयान् महतो महीयान्** " आदिवाक्यों से मालुम होता है कि परब्रह्म में ही परस्पर विरुद्धभी धर्म रहते है तो फिर इसका प्रयोजन कहना चाहिये । माना कि श्रीकृष्ण परब्रह्म है अत एव उनमें परस्पर विरुद्ध बाते भी होसक्तीहै पर यह परदाराभिमर्शन कार्य किसअभिप्राय से किया यह कहना आवश्यक है । यह कार्य लोक हितकर तो हो नही सक्ता । मर्यादा ही लोकका हित करने वाली होती है. मर्यादाभङ्ग नहीं । और यह काम स्वहितभी नहीं कहा जासक्ता, क्योंकि पूर्णकामको हिता-

हितकी वाञ्छाही असम्भव है। गोपीजनों के लिये भी मर्यादारक्षाही हितकारिणी होसक्ती थी। श्रीकृष्ण अन्तर्यामी है, इस लिये गोपियों के हितके लिये कोई अन्य उपायभी उनके लिये असाध्य नहीं था। इस तरह बहुत सोचने परभी इस कार्य करने में श्रीकृष्णभगवान्का क्या अभिप्राय था यह मेरी समझ में तो नही आता अब आपही कहिये। आप सुव्रत है अर्थात् सदाचार सम्पन्न श्रेष्ठ है, यदि वास्तवमें यह लीला इतनी असङ्गत होती तो आपके मुखसे नीकलती ही नहीं। सदाचारनिष्ठोंको अधार्मिक कार्यके कहने में रुचिही नहीं होती, किन्तु मुझे तो इससे विरुद्ध मालुम हुआ है, क्योंकि आपको इस लीलाके वर्णनमें बडा आग्रह और भाव भक्ति है, इस लिये मुझे बडा सन्देह होरहा है अब आप इस मेरे सन्देह को काट दीजिये। २७–२८–२९–श्लोक.।

श्रीशुकदेवजीका राजाको उत्तर।

राजाका प्रश्न श्रीशुकदेवजीको सर्वथा असंमत था। प्रथमतो श्रीशुकदेवजीको श्रीकृष्ण अतिप्रियथे अतएव उनके विषयमें ऐसी असंगत बातें सुनना उन्हेअति अप्रिय था। दूसरे राजाने आपाततः किसी सर्वथा अज्ञकी तरह वस्तुके स्वरूपको न जानकर ही प्रश्न कर दियाथा। अनभिज्ञ लोग विना समझे जो कुछ बोल देते है कुशल और विज्ञ लोग उसका उत्तर देनाभी अपनी अकुशलता समझतेहैं। इसलिये उसका उत्तर देना उन्हे असंमतथा। तीसरे श्रीशुकदेवजी जीवन्मुक्तथे उन्हे सम्पूर्ण जडजीव जगत्, निर्दोष पूर्णकल्याण गुण परब्रह्मही दिखाई देताथा वे श्रीकृष्णके सब चरित्र को पूर्ण ब्रह्म निर्दोष आनन्दमय देखतेथे, अत एव उन्हे राजाका प्रश्न और

फिर उसका उत्तरदेना सर्वथा असंमत होनाही चाहियेथा किन्तु फिरभी उन्होंने उसका जो उत्तर दियाही उसका एक कारण है।

जो बात मुखके द्वारा हृदयसे बाहिर होजातीहै अथवा लिखदीजातीहै तो उसके सुनने और विचार करने का सबको अधिकार होजाताहै। श्रीशुकदेवजी जानतेथे कि यद्यपि श्रीगंगाके तटपर इस समय श्रीकृष्ण चरित्र पर इस प्रकार आक्षेप करनेवाला कोई नहीं, तथापि जब हम इसे कहचुके है तो अब इसको सुनने वाले और विचार करने वाले भिन्न भिन्न अधिकार वाले होंगे। और ज्यों ज्यों कलियुग गहरा होता जायगा त्यों त्यों विचारकी दिशा बदलती जायगी इस लिये ऐसे समयमें आस्तिकों के हृदयमें कुछ अन्यथा भान न होने पावे इस लिये इसका उत्तर अवश्य देना उचित है। श्रीशुकदेवजी केवल सांख्यमार्गीय नहीथे किन्तु सच्चे भक्तथे उनका आशय यह था जिस नौकाके द्वारा हम भवसागर पार उतरेहै वह नौका दुनियासे उठही न जानी चाहिये। हम भगवच्चरित्र नौकाके द्वारा भगवच्चरणसेवक हुए है तो दूसरेभी इस चरित्रका निर्विघ्न लाभ लेसकें ऐसी इसे करदेना उचितहै। और राजा परीक्षितके प्रश्न करनेका भी यही आशय था। अन्यथा इतना विद्वान् और श्रुत भागवत प्राय राजा ऐसा प्रश्न क्यों करें? । इसी प्रश्नको राजाने दूसरे दूसरे कुछ रूपान्तर से दो बार कियाहै और श्रीशुकदेवजीने उसका उत्तरभी दोबारही दिया है परन्तु दोनो प्रश्नोत्तरोंका आशय प्रायः एकसाही होने से हमने उन्हे एक करके लिखा है।

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां नदोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥ ३० ॥

लोकमें भी ईश्वरलोग (कुछ किसी तरह की सामर्थ्य रखने वाले लोग) धर्मका उल्लङ्घन करतेहैं यह देखागयाहै। और उनको साहस करतेभी देखागयाहै। जैसे अतितेजस्वी अग्निको सर्वभोग करनेमें भी किसी तरहका दोषनही लगता इसी प्रकारसे अतितेजस्वी पुरुषों को धर्मके उल्लंघन करनेमें और साहसकार्य करनेमें दोष नही लगता।

दुनियामें तीनप्रकारके जीव होसक्ते है मुक्त मुमुक्षु और विषयी। मुक्तजीवोंके हृदयमें तो भगवच्चरित्रों के प्रति असंभावना या विपरीतभावना होती नहीं है इसलिये वे लोग तो भगवच्चरित्रसुधाको स्वरसतः अपना अवश्यकर्त्तव्य समझकर पीतेहैं। मुमुक्षुलोग (भवरोगसे छूटनाचाहनेवाले भगवच्चरित्रका पान करतेहै पर स्वार्थ से अर्थात् उन्हे मालुम हुआहै कि भगवच्चरित्रही भवरोगका अचिन्त्य औषधहै इसलिये इसका सेवन करतेहै उन्हें इसके निर्दोष फलद्रुप होनेकी जिज्ञासा रहतीहै। विषयी लोग वेहै जो जगत्के व्यवहारमें गुथेहुए है न उन्हें रोगकी खबरहै न औषधकी,

---

किमेतदीश्वराणा चारितं न भवतीत्युच्यते, आहोस्विदन्यार्थमागतोऽन्यत्करोतीति। न हि किञ्चिद् घटनार्थमागत किञ्चिन्न विघटयति। न ह्यन्यार्थमप्यागत. स्वधर्मं परित्यजति। प्रकाशनार्थमागतो दीपो गृहेण स्पृष्टश्चेद्दहत्येव अत ईश्वरधर्मोऽयम्। धर्मव्यतिक्रमो विद्यमानोल्लङ्घनम्, साहसमविद्यमानकरणम, एतदुभयमीश्वरे दृष्टम् “ न हि दृष्टे अनुपपन्नं नाम विधिनिषेधवाक्याना नियोज्यविषयत्वात्, यथा लोके, तथा वेदेऽपि- अतितेजस्विनोमतन्नाधर्मजनकम्। मिथ्याज्ञानसलिलावासिक्तायामेवात्मभूमौ कर्मबीज धर्माधर्माङ्कुरतामारभते, न तु तत्त्वज्ञाननिदाघनिष्पीतसलिलतयोषरायाम् ॥ ३० ॥

श्रीसुबोधिनी।

उन्हें तो प्रवाह जिधर लेजाय उधरही खिंचे चले जातेहैं। वे केवल बतबर्न के रससे इसमें प्रवृत्त होतेहै । श्रीमद्भागवत इसी हेतुसे सर्वोत्तम कविता और कथा भागसे गुथा हुआ भगवच्चरित्र कहागया है कि जिसके द्वारा विषयी लोगोंकाभी मन धीरे धीरे इसमें फसकर मुमुक्षुके अधिकारको प्राप्त करसके । और अन्तमें इसीके द्वारा मुक्तिभी प्राप्त करसके । उनका अधिकार ऐसा है कि उनके हृदयमें असंभावना विपरीतभावनाहोंगी ! इसलिये मन्द और मध्यमाधिकारियोंके लिये उत्तर देनाआवश्यक है । श्रीशुकदेवजी प्रथम मन्दाधिकारियोंका अधिकार हृदयमें रखकर उत्तर देना प्रारम्भ करते हैं राजन् ! तुम्हारे प्रश्नमें (**भगवान्**) और (**जगदीश्वरः**) ये दो शब्द आयेहैं ? इन दोनो शब्दों का दो प्रकारका अर्थ होताहै गौण और मुख्य। अथवा यों कहो कि लौकिक और अलौकिक संकुचित और असंकुचित किंवा प्राकृत और अप्राकृत ।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

इस परिभाषा श्लोकके अनुसार भगवान् शब्दका मुख्य और असंकुचित यह अर्थ होता है कि जिसमें पूर्ण और व्यापक ऐसे ऐश्वर्य, (हूकूमत सामर्थ्य) पराक्रम, यश, लक्ष्मी, ज्ञान, और वैराग्य (अनासक्ति) ये छः धर्म अनागन्तुक अनारोपित अर्थात् स्वाभाविकरीतिसे नित्य रहते हों वह भगवान् यही भगवान् शब्दका अप्राकृत और अलौकिकअर्थ है इसतरहका भगवत्त्व एक पूर्ण परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तममें ही है । यही बात **जगदीश्वर** शब्दके अर्थ में भी समझ रखिये । जगत के विषयमें जिसे कर्तुं (करनेके लिये) अकर्तुं (न करने के लिये) अन्यथाकर्तुं

(कुछका कुछकरदेनेके लिये) सर्वदा सर्व सामर्थ्य विद्यमान रहै वह मुख्य जगदीश्वरहै । और यही जगदीश्वर शब्दका असंकुचित अप्राकृत अलौकिक अर्थ है । ऐसा जगदीश्वरत्व भी एक पूर्ण परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तममें ही है । और इसके साथ यहभी कहदेना उचित है कि इस प्रकारका भगवान् जगदीश्वर उत्तमाधिकारियों के किंवा वेदशास्त्रके ही समझ में आताहै । और अत एव श्रीशुकदेवजी ने प्रथम इसी क्रमसे उत्तर देना प्रारम्भ किया कि जो कनिष्ठाधिकारियों के समझमें आसके ।

जिस महापुरुषमें पूर्णब्रह्मके दिये हुए इन ६ धर्मोंके कुछ अंश कुछ कालके लिये आवें वहभी भगवान् कहा जासक्ताहै । दुनियामें दुनियाके कार्यमें सामर्थ्य देने वाले हूकूमत पराक्रम यश लक्ष्मी ज्ञान और वैराग्य इन छ धर्मों के कुछ अंश अनेक महापुरुषों में देखेगये हैं । अत एव वे भी भगवान् कहेजासक्तेहै । इस प्रकारके जगदीश्वर और भगवान् भी आंशिक जगत के विषयमें आंशिक सामर्थ्य रखतेहै । किन्तु ऐसा भगवत्त्व और जगदीश्वरत्व संकुचित, लौकिक, प्राकृत और गौण मानागया है । कभी कभी तो यह प्राकृत भगवत्त्व और जगदीश्वरत्वभी ऐसा होता है कि बडे बडे बुद्धिमानोंकी समझमें भी नहीं आसक्ता । अमरकोषमें योगियोंके अणिमा महिमा गरिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व और वशित्व ये आठ सामर्थ्य कहेहै यद्यपि ये सामर्थ्य आंशिक और आगन्तुक है तथापि क्या इनके सुनने मात्रसे किसीको आश्चर्य नहीं होता ऐसी अवस्थामें जहां कहीं भी अंशतः आगन्तुक किंवा आरोपित पूर्वोक्त गुण होंगे वह चाहै मनुष्य हो देव हो, भगवान् कहा जासक्ताहै । लोकमें किसी ऐश्वर्यशाली पुरुष को देखकर लोग उसे भगवान् कहदेते हैं ।

शास्त्रमें भी (भगवान् व्यासः) (भगवान् नारदः) इत्यादि ऋषियों को भी भगवान् विशेषण आतेहै । किन्तु यह उनका भगवत्त्व आंशिक और और आगन्तुक है । यही बात ईश्वर शब्दमें भी है । ईश्वरभी साधारण और असाधारण होसक्ताहै । ईष्टे. असौ ईश्वरः । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थ ईश्वरः । (**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**) आदिवचनोसे यह स्पष्टहै । जिसमें अनागन्तुक अनारोपित रीतिसे अप्रमेय सामर्थ्य हो वह ईश्वर शब्दका असंकुचित अर्थ है, अत एव असाधारण है । किन्तु साधारण आंशिक दृष्टिसे देखेंगेतो थोडी सामर्थ्य वाला भी पुरुष ईश्वर कहा जासक्ता है । जैसे राजा । वह भी सब कुछ करने की सामर्थ्य रखताहै। किन्तु लौकिक पुरुष में यह ईश्वरत्व साधारणही है । राजाने अपने प्रश्नेंम **भगवान्** और **जगदीश्वर** दोनो शब्द दोनो दृष्टिसे ही रखे है उसे साधारण और असाधारण दोनो रीतिसे उत्तर दिलवाना है । वह तो समझचुका है कि भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात्पूर्णब्रह्महै और इसीलिये उनकी किसी लीलाओंमें उसे किसी तरह काभी सन्देह नही है किन्तु अग्रभावी किंवा तत्सामयिक कितने ही साधारण अधिकारियों के हृदय में असंभावना विपरीतभावनायें हो सक्ती है इसलिये उन्हे उत्तर दिलवानें के लिये उसे यह प्रश्न करना पडा है ।

और अत एव उसने समझबूझ करही “ **भगवान्** ” और “ **जगदीश्वर** ” इन शब्दोंका प्रयोग कियाहै ।

श्रीशुकदेवजी चार श्लोक पर्यन्त अर्थात् ३० वें श्लोक से ३३ श्लोक पर्यन्त साधारण दृष्टिसे उत्तर देते है । राजन् ! रासलीला पर इस तरहका

आक्षेप करके क्या तुम यह कहना चाहते हो कि यह रासलीला ईश्वर चरित्र ही नही हो सक्ता ? । अथवा यह कहना चाहते हो कि भगवान् श्रीकृष्ण कुछ करने के लिये तो आये और कुछका कुछ कर बैठे ?

यदि यह कहते हो कि, यह लीला ईश्वरोंका चरित्र नहीं तब तो तुम्हारी भूल है । लोकमें प्रायः देखा जाता है कि ईश्वर लोग धर्ममर्दाका उलङ्घन करतेही है, साहस भी करते हीं है । जो बात साधारण रीति से देखनेमें आती है, उसमें आश्चर्य कैसा ?, और अनुपपत्ति कैसी ? । देख रहेहै, और देख सक्ते है कि गोन्दीके वृक्षकी छाल और कत्था मिलाने से एक दम लाल रङ्ग हो जाता है फिर उसमें अनुपपत्ति कैसी ? और प्रश्न कैसा?

जो नियम- साधारण प्रजा के लिये ही बनाये गये है; उनका प्रतिबन्ध स्वयं राजाको नही होसक्ता । प्राड्विवाक (जज) मृत्युका हूकम देताहै पर उसे हत्या नही लगती । ईश्वरको साधारण नियम प्रतिबन्धक नहीं हो सक्ते । अन्यथा फिर वह ईश्वरही किस बातका ।

विद्यमान नियमोंका उल्लङ्घन करना धर्मव्यतिक्रम कहा आता है भींतसे वायु रुक सक्ती है किन्तु मन नहीं रुक सक्ता । कभी कभी तो बहुत जोरका पवन भींतको भी तोड गिराता है । इसी प्रकार अति तेजस्वी पुरुषोंके सेवक भी किंवा साधारण पुरुषभी साहस और मर्यादो-लंघन कर जाते हैं । और फिरभी कोई उन्हें दोषी नहीं ठहरा सक्ता । वेदशास्त्रमें भी विधिवाक्य और निषेधवाक्य उन्ही के लिये हैं जिनके लिये वे निर्माण किये गयेहैं । जो अत्यन्त तेजस्वीहैं, सर्व कार्योंके बनाने और सुधारनेकी सामर्थ्य रखते है; उनके लिये विधिनिषेधवाक्य नहीं हैं । अग्नि और सूर्य दोनों बनाने और विगाडने की सामर्थ्य रखते हैं अत एव अग्नि

यदि सबको जला दे तो भी उसे वधपातकी कोई नहीं कहसक्ता। और सर्वभक्षी रहते भी उसे कोई अभक्ष्यभक्षक नहीं कहता। सूर्य विष्ठा तकके सारको ग्रहण करता है किन्तु उसमें बनाने और बिगाडनेकी अलौकिक सामर्थ्य रहनेसे उसके उस कृत्यको दोष कोई नहीं कहता।

अविद्याद्वारा मिथ्याज्ञान से जिनका हृदय कलुषित होरहाहै उन्हींके लिये विधिवाक्य और निषेधवाक्य है। और उन्हीके हृदय पर कर्मबीज धर्माधर्मका अङ्कुर उत्पन्न करसक्ता है। किन्तु जिनका हृदय तत्त्वज्ञान की अग्निसे दग्ध होचुका है, उनके हृदय पर कर्मबीज अपना अङ्कुर नहीं जमासक्ता। तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि से यदि देखा जायतो श्रीकृष्ण सर्व तत्त्वज्ञानियों के चूडामणि थे, इसलिये वे विधिनिषेध वाक्योंकी सीमासे बाहिर थे। कर्म अकर्मकी मर्यादा उनके लिये नहीं थी। और इसीलिये यह रासलीला ईश्वरका चरित्र है अत एव निर्दोष है।

किसी कार्यके लिये आये पर कुछका कुछ कर बैठे। यह आक्षेप स्वतन्त्र व्यक्ति पर या ईश्वर (समर्थ) पर नहीं होसक्ता। घरमें प्रकाश करने के लिये दीपक जलाया गया किन्तु यदि उसका स्पर्श छप्परसे हो जाय तो वह घरको जलाभी सक्ताहै। " किसी कार्यके सुधारने के लिये जो आया वह किसी अन्यकार्यको बिगाड नहींसक्ता " यह नियम साधारण नहीं होसक्ता भगवान् श्रीकृष्ण धर्मरक्षार्थ प्रकट हुए हैं यह ठीक है किन्तु दीपक की तरह किसीमें अपना स्वरूप प्रवेश करके उसे तद्रूप बना देना यह उनका स्वतन्त्र धर्म है। रासलीलाभी यही कार्यहै यह हम आगे जाकर स्फुट करेंगे।

यहा एक यह प्रश्न होताहै कि यद्यपि ईश्वर (समर्थ) लोग धर्मका उल्लघन और साहस करतेहै, तथापि वह उनका कार्य यशस्कर नही हो सक्ता । दूसरी बात यह भी है कि "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" इस न्याय से उनके चरित्रको देखकर सामान्य जनसमाज की प्रवृति भी अधर्म के तरफ होसक्ती है। और इसतरह यदि होने लगे तो थोडे समयमें लोकका नाश होजाय, इसलिये लोकसग्रहकी दृष्टिसे भी रासलीला दोषाग्रह है। इसका उत्तर श्रीशुकदेवजी देतेहै—

नैतत् समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथाऽरुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥३१॥

राजन् ! हम पहलेही कह चुकेहै कि ऐसे काम ईश्वरके ही होतेहै। यह कार्य ऐश्वर्य सहकृत ही शोभास्पदहै । सोमलविष यद्यपि प्राणहर है। तथापि यदि उसमें जीवनप्रद औषधोंकी भावना देदीजाय तो वही जीवन रक्षक होजाताहै । इसीतरह ईश्वर जो कार्य करे, उसीको यदि अनीश्वर (असमर्थ] भी करने लगे तो अवश्य नष्ट होजाय । क्यों कि वह कार्य ईश्वरका ही है ।

बलवान् पुरुष यदि कोई अपथ्यकी वस्तु खाले तो उसके लिये वह

एतदीश्वरकृतमनीश्वरो न समाचरेत् ऐश्वर्यसमानाधिकरणमवैतन्नानिष्ट करोति विपरीते बाधकमाह–मौढ्यादैश्वर्यसहभावन्तस्य कर्मण' अज्ञात्वा केवल तत्कर्म आचरन् तेनैव कर्मणा नष्टो भवति यथा रुद्रव्यतिरिक्त अब्धिज विष कालकूटमाचरन् आसमन्ताद् भक्षयन् विनश्यति तदीश्वरस्यैव शोभाकर, येन नीलकण्ठो भवति तथैव गोपीजनवल्लभ इति ॥ ३१ ॥

श्रीसुबोधिनी ।

उतनी अहित (रोगकारी) नही होसक्ती, जितनी कि किसी रोगी या दुर्बल पुरुषके लिये होसक्ती है । बलवान् पुरुष अनेकवार सर्दी गर्मी सहन करसक्ते है और करते भी है किन्तु दुर्बल मनुष्य यदि क्षणमात्रके लिये भी शीतोष्णका सहन करनेका साहस करे तो उसको वह सर्वथा अहितकर होगा, यह बात सबको अनुभूतहै । इसलिये अनीश्वर (असमर्थ) को चाहिये की वह ईश्वर (समर्थ) के उन आचरणोंका जो कि उसने अपने ऐश्वर्य बलसे किये हों कभी मनसे भी उन आचरणो के करनेका साहस न करें

कितनी ही प्राणहर, किवा अहितकर जड़ीबूंटियो मे जीवनप्रद किंवा दोषहर दवाईयों का पुट किवा भावनायें ऐसी दीजाती है जिससे उनकी वह मारकशक्ति किवा अहितकारिणी शक्ति दूर होजातीहै और वे किसी को नुकसान नही करती प्रत्युत वेही जीवनप्रद तथा बलवर्धक होजाती है । इसी तरहसे ईश्वरके किये हुए वा क्रियमाण कर्मोमें ऐश्वर्य का सहयोग होताहै इसीलिये चाहे वे प्रकटमे बुरेभी दीखते हों तथापि वे कर्म उन ईश्वरोंके लिये दोषावह (अहितकर) नही होसक्ते । किन्तु अनीश्वर (असमर्थ किवा साधारण) मनुष्य के लिये वैसे कर्म दोषावह है अत एव उसे चाहिये कि ईश्वरके ऐश्वर्य सहयोगी चरित्रोंका अनुकरण करनेकी इच्छाभी न करे । जैसे महाराज्य (चक्रवर्तित्व) की प्राप्तिका अनधिकारी यदि चक्रवर्तिकी गादीपर बैठनेकी कुचेष्टा करे तो मारा-जाताहै । ईश्वरकी (समर्थकी) ऐश्वयुक्त कार्योकी कामना तथा ऐश्वर्यभोग उसकी शक्तिके सहयोग पर निर्भर है। ऐश्वर्ययुक्त न होकर जो उस कार्यको करे तो उस कर्मसे ही उसका नाश होजाताहै ।

यहाँ एक यह प्रश्न होसक्ताहै कि एकही कार्य यदि धर्मान्तर (ऐश्वर्यादि) को साथ लेकर किया जाय तो नाश न करे और ऐश्वर्यादिको साथ न रखकर किया जाय तो नाश करदे इसका कारण क्या ?

इसके उत्तरमें श्रीशुकाचार्य प्रत्यक्षको ही दृष्टान्त देतेहै । " यथा **अरुद्रः अब्धिजं विषं आचरन् विनश्यति** " अर्थात् जैसे जो मनुष्य शिवजीकी तरह ऐश्वर्य [पराक्रम] शाली न हो और समुद्रसे निकले विषका पानकरले तो अवश्य माराजाय । श्रीशिवजीने हलाहलका पान किया यह उनका ऐश्वर्य कर्म था । रुद्र ईश्वर हैं, उनमें ऐश्वर्यहै, उनकी सामर्थ्य है कि एक नहीं अनेक ऐसे कार्य करसक्ते है, किन्तु उनके ऐसे कर्म को देखकर या सुनकर यदि कोई सामान्य मनुष्य या देवताभी हलाहलका पान करले तो अवश्य वह उसी कार्यसे नाशको प्राप्त होजाय ।

इसलिये राजन् ! ईश्वरलोग यदि लोकमें वर्तमान मर्यादाओं का उल्लंघन [धर्मव्यतिक्रम] किंवा लोकसे अशक्यकार्य (साहस) भी करें तो वह उनका कार्य सामर्थ्य सहकृत होने से दोषावह नहीं होता । और न उससे उनकी कुछ हानि ही होती है । प्रत्युत उसीकार्यसे उनकी बड़ाई और शोभा होतीहै । श्रीमहादेवके विषपान करने से ही उनको नीलकण्ठ कहते हैं और उसीसे लोकमें उनका महत्त्वभी ख्यात हुआ । इसीतरह रासलीला से श्रीकृष्णका त्रैलोक्यमें महत्त्व हुआ, और " **श्रीगोपीजनवल्लभ** " यह नाम भी हुआ ।

यहाँ फिर एक प्रश्न होताहै कि ' शास्त्रमें लिखा है कि " **यद्वृत्तमनुतिष्ठन्वै लोकः क्षेमाय कल्पते** " अर्थात महापुरुषों को ऐसे आचरण रखने चाहिये

कि जिनका अनुकरण करनेवाले सामान्य मनुष्योंका भी कल्याण हो 'यह वचन विरुद्ध पड़ेगा। और "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" यह वचन भी व्यर्थसा ही होजायगा। क्योंकि अब सामान्यजनता ईश्वरों (श्रेष्ठों) के आचरणोंका अनुकरणतो कर न सकेगी तब फिर यह वचन व्यर्थ ही है।

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीशुकदेवजी कहते है कि—

ईश्वराणां वचस्तथ्य तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत् ॥ ३१ ॥

ईश्वरों के सबके सब आचरण अनुकरणीय नही होते किन्तु उनके वचनानुसार आचरणही अनुकरणीय होते है। और उनके वचन तो सबके सब पालनीय होते है। ईश्वरो में बहुतसे धर्म होते है, महत्त्व ऐश्वर्य, पराक्रम, दया, शान्ति, धार्मिकता, प्रभृति। इन सब धर्मोंके अनुसार उनके आचरण होते है। कोई आचरण ऐश्वर्यादि धर्मोंके अनुसार होतेहैं तो कितनेही उनके आचरण दया धर्मात्मापन आदि धर्मोंके अनुसार होतेहै, अत एव सबके सब आचरणोंका अनुकरण कर्तव्य नहीहै। ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, ओर निजी पराक्रमके अनुसार जो जो उनके आचरण होतेहै वे सब उनके स्वच्छन्द (स्वतन्त्र) चरित्र है। बुद्धिमान मनुष्य उनके उन

ननूक्त यद्वृत्तमनुतिष्ठन्निति, तत्राह-ईश्वराणामिति। ईश्वराणा वच एव तथ्यं नत्वाचरितम्(वचसि तथ्यत्व करणीयप्रतिपादकत्वम्। आचरिते तथ्यत्व स्वसजातीयत्वेन ग्रहणाविषयत्वम)ईश्वराणा वहवो धर्मा, यथैश्वर्य, तथा धर्मात्मत्वम्, तथा दयाऽ तत्रैश्वर्यज्ञानवैराग्यैर्यत्करोति, तत्स्वच्छन्दचरितमित्युच्यते बुद्धिमास्तन्न समाचरेत्— ते ह्यन्यथा न वदन्ति अन्यार्थ कथनमन्याधिकारेणेति अतस्तद्विरुद्ध न कथयन्ति॥३-

श्रीसुबोधिनी।

आचरणोंका अनुकरण न करे, और कर भी नहींसक्ता । किन्तु जिन आचरणों को लोकमें प्रचार करानेके हेतुसे वे करते हो उनही आचरणोंका अनुकरण करना सामान्यजनताके लिये श्रेयस्कर है ।

ईश्वरोंके वचनोंकी सरणि दूसरे प्रकारकी है । उनके वचन लोककी सत्कर्ममें प्रवृत्ति होनेके लिये ही होतेहैं, इसलिये उनका अनुसरण करना सर्वथा हितावह है । ईश्वरके आचरणोंके अनेक उद्देश्य होते है, एक नहीं जिन कर्मो का अनुष्ठान वे लोग लोककी प्रवृत्तिके लिये करते हों, बुद्धिमान्‌को चाहिये कि उनके उनही कर्मोंका अनुकरण करे ।

ईश्वरोंके आचरण स्वाधिकारानुसार होतेहैं, न कि जनसामान्य के अधिकारानुसार । अत एव उनके आचरणोंमें करणीय प्रतिपादकता किंवा ग्राह्यत्वप्रतिपादकता नही रहती । और इसीलिये उनके आचरणों में स्वदृष्टिसे तथ्यता (सत्यता) रहतेभी जनसामान्यकी दृष्टिसे तथ्यता नही है । उनके आचरणोंमें क्वचित् ही सत्यता आतीहै , सर्वदा नहीं । जब वे लोग चलाकर सामान्यजनताको शास्त्रमर्यादा पर अपने आचरणद्वारा चलाना चाहते हैं तब वे अपने आचरण शास्त्रवचनानुसार करलेतेहैं और इसीलिये उसीसमय उनके आचरणोंमें तथ्यता होतीहै ।

उनके वचनोंमें यहबात नहींहै । उनके वचन सर्वदा तथ्यहैं । क्योंकि वो लोकाधिकारके अनुसार कहेजातेहैं नकि स्वाधिकारानुसार । शास्त्र लोकाधिकारकहै ईश्वराधिकारक नहीं । सामान्य होनेसे । अर्थात् उनका कथन अन्यके अधिकारसे अन्यके लियेही होताहै इसलिये स्वदृष्टिसे अतथ्य रहतेभी अन्याधिकारकी दृष्टिसे तथ्यही है । अत एव जनसामान्यको

ईश्वरके वचनका अनुसरण करना उचित है। वह उनके अधिकारको देखकर उनके लियेही कहागया है इसलिये तथ्यहैं। किन्तु उनके आचरण, सर्वदा स्वाधिकारानुसार होतेहैं नकि अन्याधिकारके अनुसार इसलिये लोकके लिये वे अतथ्य है उनका अनुकरण करना उचित नही है। यदि उनके सब आचरणों का अनुकरण करें तो भयप्राप्ति होतीहै।

इस सिद्धान्त पर भी एक आक्षेप होताहै कि ईश्वर लोग जो मुखसे कहतेहैं उसका सर्वदा अनुष्ठान नही करते, और उनके कुछ आचरणोंमें अनौचित्यभी रहताहै यदि उनके कितन ही आचरणोंमें अनौचित्यभी न रहता होता तो फिर वे जो कहतेहै वह करते क्यों नहीं।

इस आक्षेपका उत्तर देते हुए श्रीशुकाचार्य कहते हैं कि—

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेण वाऽनर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो ॥ ३३ ॥

ईश्वरलोगोंको इस लोकमें उत्तमचरित्रोंके द्वारा अपना स्वार्थ (मतलब) बनाना नहींहै, और न उनके अधमचरित्रों से उन्हे कुछ दु:खादि हानि होने वालीहै क्यों कि उनके हृदयमें अविद्याकार्य देहाध्यासादिदोषही नहीं है। अध्यासरहित होकर जो कार्य कियाजाताहै उसका भला बुरा फल

ननु यथाऽन्यस्मै कथयन्ति तथा स्वयमपि कुतो न कुर्वन्ति तत्राह-कुशलाचरितेनैषमिति एषामीश्वराणां कुशलाचरितेन अर्थः प्रयोजनं न विद्यते। ततोप्यनन्तफलस्य प्राप्तत्वात्। विपर्ययेण अकुशलाचरितेन अनर्थोऽपि न। ईश्वराणामेव निषिद्धकर्मणाऽनिष्टाभाव इति न, किन्तु ज्ञानिनामपीति ज्ञानवैराग्ययोस्तुल्य स्वरूपमाह—निरहंकारिणामिति। न केनापि किमपि, कर्तृत्वाभिमानाभावात् ॥ ३३ ॥

श्रीसुबोधिनी।

कर्ताको नहीं लगता । हे राजन् आपभी प्रभु (समर्थ) हैं । किसी अनुचितकर्मकरनेवालेको देहदण्डादि भी दिये हेगें किन्तु उस समय उससे अपना कोई स्वार्थ न रहने से न तो आपका दुर्यश हुआ और न उससे आपको अपराधही लगा,

इस बातका राजाको अनुभव करानेके लियेही प्रभो ! यह संबोधन दिया गया है ।

यदि विचार किया जाय तो कुशल (उत्तम) कर्म और अकुशल (अधम) कर्म इन दोनों शब्दोंके अर्थोंका प्रवृत्तिनिमित्त अहङ्कार और कामहै । कृति (क्रिया वा चेष्टा) में स्वरसतः अच्छापन और बुरापन नहीहै । कृति तो सर्वदा कृतिही है । किसीके थप्पड लगाना सर्वदा क्रियाही है और क्रियाही रहेगी, किन्तु यही क्रिया किसी समय अच्छी होजातीहै और कभी बुरी, उसका कारण काम है, स्वार्थहै । लड़केको न पढने पर थप्पड मारो तो अच्छा कहाजायगा, और बिना काम मारोतो बड़ा बुरा कहाजाय। लेकिन थप्पड, दोनों बार थप्पड़ही रहा आया । भूखेके लिये भोजन करना अच्छा है किन्तु धायेके लिये वह बुराहै क्योंकि वहां स्वार्थ विद्यमान है और यहां स्वार्थ नहींहै ।

जिसको अपने आपमें किसी प्रकारकी न्यूनता मालुम देती हो उसेही कामना होती है और जिसे कामना होतीहै वही कुशल अकुशल कर्म करता है, ईश्वरोंमें न न्यूनताहै और न कामहै इसलिये उनके अच्छे और बुरे कर्मोंका कोई फल नही होता ।

वास्तवमें कामका भी मूल अहङ्कारहै । देहमें आत्मबुद्धि होने से काम होता है । आत्मा पूर्णहै उसमें किसी बातकी न्यूनता नहीहै इसलिये केवल

आत्माको कामभी नहीं होता। आत्मा पूर्णहै, देह अपूर्ण है। आत्माही अहंशब्द वाच्य है (अहंका असल अर्थहै) देह अपूर्ण है और अहंका अर्थ नहींहै, तथापि अविद्या (अज्ञान भूल) से हमने आत्मा के स्थान पर देहको समझ रक्खाहै जिन्होंनें आत्माको देह, और देह को आत्मा समझरक्खा है (जीवमात्रकी साधारण धारणा ऐसी ही है) उन्हे देहात्म-बुद्धि किंवा देहात्मवादी कहतेहैं। देहात्मबुद्धिवालोंको देह, इन्द्रिय, प्राण, और अन्तःकरण का अध्यास होताहै अर्थात् वह इन सबको अपना) असल (मूल) स्वरूप समझ रहाहै। जिनको ऐसा अध्यास (भूल) होताहै उन्हें अपने आपमें अनेक प्रकारकी अपूर्णता दीखती रहतीहै। इसलिये वे सुखप्राप्तिके लिये और दुःखपरिहारके लिये कुशल और अकुशल कर्म करते रहतेहैं। और उन्हे कर्मानुसार फलभी होताहै। किन्तु जिन्हे भूलही नहीं अर्थात् अहङ्कार ही नहींहै वे कुशल और अकुशल दोनों की इच्छा नही करते। कुशल और अकुशल दोनों वृत्तियां राजसी बुद्धि कीहैं। और त्रैगुण्य रहित ईश्वरों की वह बुद्धि निवृत्त होचुकीहै अत एव कुशलकर्म और अकुशलकर्म उनका सुधार किंवा हानि नहीं करसक्ते।

कुम्हारका चाक कुम्हार के हाथकी चेष्टा बन्ध होजाने पर भी वेगके वश जिस प्रकार चलता रहताहै, इसी प्रकारसे ज्ञान और वैराग्यकी पूर्णताको प्राप्त हुए ईश्वर [समर्थ] लोगोंका देहभी अध्यासवश पूर्ववत् सब चेष्टा (सबकर्म) करता रहताहै तथापि उनके अन्त.करणके अहङ्कार और कामनाओंके निवृत्त होजाने से उन्हें कर्मोंका फलाफल कुछ नहीं मिलता क्योंकि उन्हें कर्तृत्वाभिमानही नहींहै। यह बात वेद गीता और भागवत आदि

शास्त्रोंमें स्पष्टरीति से कहीगई है। " न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवमिति " तैत्तिरीयोपनिषत्। " नो कनीयान् भवति " छा० उप० ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

श्रीशुकदेवजीने पूर्वोक्त कितनही श्लोकोंमें ऐश्वर्य, वीर्य, यश और श्री इन साधारण ऐश्वर्यकी दृष्टिसे उत्तर दिया, और फिर कितनेही श्लोकोंमें ज्ञान तथा वैराग्य रूप साधारण ऐश्वर्यकी दृष्टिसे भी उत्तर दे दिया अब असाधारण ईश्वरताकी दृष्टिसे उत्तर देनेका आरम्भ करतेहैं। साधारण-ईश्वर देवता देवांश और जीवन्मुक्त आदि जीव होतेहैं। और ब्रह्मा विष्णु महेश ये तीन देवदेव असाधारण ईश्वरहैं। और श्रीकृष्णभी देवाधिदेवहै असाधारण सर्वांशी ईश्वरहै इसलिये उनकी दृष्टिसे उत्तर देतेहै—

किमुताखिलसत्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥ ३४ ॥

किमुतेति नियामकाद्धि शङ्का भवति, भगवतो न नियामकोऽन्योऽस्तीत्याह-सर्वजीवाना गुणत्रयकार्याणां जीवजडानामप्राकृतप्राकृतानां वा सर्वेषामेवेशितुः प्रभोःकृष्णस्य, तत्कृतगुणदोषाभ्यां कुशलाकुशलान्वयः कुतः ॥ ३४ ॥

श्रीसुबोधिनी ।

कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सर्वसमर्थको वास्तविक असंकुचितिक ईश्वर कहते है यह हम पहले कहचुकेहै । जब साधारण ईश्वरता रखनेवाले जीव भी कुछ कर सक्तेहै, होतीहुई बातको कुछ रोकसक्तेहै और थोडाबहुत कुछका कुछभी करसक्तेहैं, तब यहां तो श्लोकमें "**अखिलसत्त्वानाम्**" पद दिया गयाहै । इससे स्पष्ट होताहै कि श्रीशुकदेवजी असाधारण ईश्वरताका उद्देश्य रखकर ही उत्तर देरहे हैं । हे राजन्! सर्व ब्रह्माण्डवर्ति सात्विक राजस तामस प्राकृत अप्राकृत समस्त जड जीव पदार्थके विषयमें कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सर्वसामर्थ्य रखनेवाले श्रीकृष्णके लिये "**यह बुरा कर्म है । और यह अच्छा कर्महै**" यह साधारण मर्यादा हो ही नही सक्ती । जिसको हम भला बुराकर्म समझ रहे है, उस ईश्वर को वैसा सब करते रहते भी उन कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता ।

कितनेही ईश्वर ऐसे होतेहैं कि अन्यपदार्थों पर तो अपना प्रभाव जमा सक्ते है किन्तु अपने आप पर उनका कोई प्रभाव नही होंता वे अपने आपको वशमें नहीं रखसक्ते । किसी मोहक पदार्थका उनके साथ जब संबन्ध होताहै तो वे उस पदार्थके कुशल अकुशल फलको बचा नही सक्ते किन्तु श्रीकृष्ण असाधारण ईश्वरहै । अपने आपको सर्वथा वशमें रखनेवालेहै अत एव आपका नाम ही "**वशी**" है । अपने ईशितव्य अर्थात वशमें रहने वाले पदार्थसे सम्बन्ध होनेपर उनके कुशलाकुशल कर्म और उसके फलसे अपने आपको बचा लेतेहै । श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णके विषयमें कहाहै कि—

पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै ।
र्यस्येन्द्रिय विमथितुं कुहकैर्न शेकुः ॥

स्वशक्तिरूप श्रीकृष्णकी श्रीरुक्मिणी आदि रानियां भी काम बाणरूप अपने हावभावादि द्वारा जिस श्रीकृष्णके हृदयको कभी शिथिल न करसकीं। इतनाही नही किन्तु श्रीकृष्णका ता यह समर्थ्याहै कि वे जिस पर अनुग्रह करें तो उन अपने ईशितव्यों का भी कुशलाकुशलान्वय दूर कर सक्तेहैं। श्रीकृष्णका स्वभावही यहहै कि अपने ईशितव्यों को, और उनके कुशलाकुशल कर्मों को अपना रूप देकर ही ग्रहण करते हैं। सूर्य जब पार्थिव रसोंका ग्रहण करता है तो वह उन्हें अपना रूप देकर-ही खेंचताहै। शहदमें पुष्पों के अनेक रस शहद वन कर ही पहुंचते हैं। कडेकुण्डल आदि गहने सुवर्णमें पहुंचते समय सुवर्ण होकर ही वहां पहुंचते है। इसीतरह भगवान् श्रीकृष्णने श्रीगोपीजनों में पहले अपना स्वरूप स्थापन करने के बादही उनका ग्रहण किया।

हे राजन्! इस बातको श्रीकृष्णके सब अन्तरङ्ग पुरुष जानते है इसलिये उनकी सुश्लोकता (सुकीर्ति) की हानिभी नही होसकी ॥ ३४ ॥

राजन्! श्रीकृष्णके विषयमें विशेष क्याकहूं।

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानास्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः

यत्पादेति। न हि सर्वेषामेव जीवाना समानकर्मणां समानं फलमुपलभ्यते। अन्यथा शास्त्र (ज्ञानादि) वैफल्यापत्ते.। तत्र मार्गत्रयम्। त्रिष्वपि प्रवृत्तो नापकर्षं याती त्याह यस्य भगवतः पादपङ्कजस्य परागभूता ये सेवकास्तेषां निषेवस्तेन तृप्ता.। भगवद्भक्तैः सह भगवद्गुणस्मरणेनैव विस्मारितदृष्टश्रुतसुखलेशाभासाः स्वैरं चरन्ति। न तेषां कर्मोत्कर्षापकर्षौ साधकबाधकौ। तथा कर्ममार्गेऽपीत्याह योगो हि महान्धर्मः तस्य प्रभावः अणिमाद्यैश्वर्यसम्पत्तिः, ज्ञानादयश्च। तेनैव विशेषेण धुताः, पूर्वकर्मजनि-

श्रीसुबोधिनी.

सबजीवों को समानकर्मसे समान फल मिलताहै ऐसा नियम नही हो-सक्ता यदि ऐसा होता तो तब विविधशास्त्रही विफल होजाते । और-इसीलिये जीवोद्धारके लिये शास्त्रों में तीन मार्ग कहेहैं उन तीनों मार्गोंमें प्र-वृत्त हुआ जीव कदाचित् कोई अपकृष्ट " बुरा " कर्म करले तो उसकी अधोगति नहीं होती यह बात पहले कहते है । भगवद्भक्तलोग भगवच्चर-णारविन्दके रेणुरूप जो अन्य भगवदीय हैं उन्हो के साथ रहकर और भगवद्गुणानुवादस्मरणादि करते रहते हैं और स्वतन्त्र विचरते हैं । उनको उत्कृष्ट कर्मसे कुछ लाभ नही और अपकृष्ट कर्मसे कुछ हानिभी नहीं होती । इसका दृष्टान्त वृत्रासुर है । वृत्रासुर पूर्व जन्ममें प्रभुका ऐकान्तिक भक्त था । अतएव उसकी दृष्टिमें स्वर्ग नरक और मोक्ष तीनों समान थे क्यों कि वह सर्वत्र श्रीकृष्णको ही देखताथा यह बात पार्वतीसे श्रीम-हादेवने कही है ।

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥
वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्वहतां नृणाम् ।
ज्ञानवैराग्यवीर्याणां नेहकश्चिद्व्यपाश्रयः ॥ ६ १७ ॥

हे पार्वति । भगवच्चरणारविन्दों में ही परम प्रेम रखनेवाले महापुरुष

ता अपि अखिलकर्मबन्धाः । तेऽपि स्वैरं चरन्ति । ज्ञानमार्गेऽप्याह-मुनयोऽपि स्वैरं चरन्ति यत्र भगवत्प्रवर्तितमार्गेष्वप्येषा व्यवस्था, तत्र भगवतः किं वक्तव्यमित्याह-इच्छया भो-गार्थं आत्तानि वपूंषि ' यावतीर्गोपयोषित ' इति, तावन्ति वपूषि येन । तस्य कुत एव बन्धो भवेत् । अतः सर्वथा प्रमाणप्रमेयविचारेणापि न बन्धः सम्भवति ३५

श्रीसुबोधिनी ।

किसीसे भी (**कुशल और अकुशल कर्मादिमे**) डरते नही । क्योंकि-उन्हें स्वर्ग नरक और मोक्ष तीनों बराबर है जिन महापुरुषों की श्रीकृ-ष्णमें निर्गुणा भक्ति है और अत एव ज्ञान और वैराग्यका सामर्थ्य जिनके पास विद्यमान है उन्हें इस जगत् में विविधकर्म करते रहते भी भले बुरे कर्मफलका सम्बन्ध नही होता ।

कर्मयोगमें भी यही नियमहै । योगभी एक महान् धर्म है । याज्ञव-ल्क्यमें लिखाहै कि " **अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्** " योग के द्वारा श्रीकृष्णपरमात्माका साक्षात्कार करनाभी एक परमधर्म है । उस योगके द्वारा जिन्होंने पूर्व जन्मीय सकलकर्मबन्धनों का नाश करदियाहै। और जिन्हें अणिमादि ऐश्वर्यों की स्वतः प्राप्ति होचुकी है, वे भले बुरे किसी कर्म से और उसके फलसे बद्ध न होकर स्वतन्त्र विचरते हैं ।

मुनिलोगों की भी यही व्यवस्था है । भगवत्स्वरूप एवं उनके माहा-त्म्य गुण लीलाओं को जानने वाले ज्ञानीलोगभी किसी कर्मसे नही बंध ते और स्वच्छन्द विचरते है ।

भगवदुक्त इन तीनों मार्गोंमें जो सिद्धहोचुके हैं उन्हें ही जब कर्मोंका बन्धन नहीं होता तो फिर अपनी इच्छामात्रसे यथेष्ट त्रिविधरूपोंको धा-रण करने वाले योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण को कुशलकर्मसे लाभ और अकुश-लकर्म से बन्ध होगा यह तो शंकाभी होना असुरभाव है। यह बात सर्व-प्रसिद्धहै कि " **कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः** " श्रीकृष्णने रासलीलाके समय एक साथ एकही समयमें जितनी गोपियां थीं उतने ही सहस्रशः रूप धारण करके उनके साथ लीला (क्रीडा) की थी इसलिये सर्वेश्वर श्रीकृष्णको रासलीलासे कुछ हानि होगी यह संभावनाभी नहीं होसक्ती ।

स्वरूपसामर्थ्यसे भी श्रीकृष्णको परदाराभिमर्शनका दोष नही लग-सक्ता यह बात अब कहतेहै कि—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनाम् ।
अन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥

यदि कोई परकीय हो अथवा परकीय की स्त्री हो तो उसके स्पर्शमें दोष होसक्ता है किन्तु यदि अपने आपका स्वय स्पर्श करे तो क्या दोष होसक्ताहै ? श्रीकृष्ण भगवान् तो गोपाङ्गनाओंका उनके पतियोंका और सब देहधारियों का " **स्व** " अपनपा है, उपादानहै, स्वरूपही है । जिसतरह गहनोंका सुवर्णही " **स्व** " (**स्वरूप**) है इसीतरह श्रीकृष्णही सर्व जगत्का " **स्व** " स्वरूप है । श्रीकृष्णके लिये न कोई परहै, न दाराहै, और न उसका अभिमर्शन है । सबके स्वरूपमें आत्मामें और प्राणो में वही स्वरूप आत्मा और प्राण होकर विराज रहा है " **प्राणस्यप्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः** । जो गुप्तरीतिसे सर्वत्र सर्वरूपसे समा रहाहै वही श्रीकृष्ण क्रीडा करने के हेतुसे आनन्दमय देह को प्रकट कर सबके अध्यक्ष " **प्रत्यक्ष** " हुआहै । उसके लिये न कोई पर है, न कोई स्त्री है, उसके लिये है तो सब स्वस्त्री हैं (भोग्य) और वह सबका नित्यही अभिमर्शन करता रहताहै ।

ते ह्यवधूतास्त्वयोऽपिन ते व्यवहारनियाका अतो विमेदृष्टान्त इति चेत्-तत्राह-गोपीनामिति न हि स्वस्पर्शः स्वस्य क्वापि निषिद्ध । पराचासै स्त्री, परस्य च स्त्री, उभयमपि न भगवति यतो भगवान् गोपीनां तत्पतीनां च आत्मा । स एवाय भगवानध्यक्षः प्रत्यक्ष क्रीडनेन कृत्वा नटवत् पुरुषदेह भजते वस्तुतस्तु नायं पुमान् , नच स्त्री, नाप्यन्यः॥ ३६ ॥

श्रीसुबोधिनी ।

तथापि इसी प्रकारसे क्रीडा करने का क्या विशेष प्रयोजन है इस प्रश्नका उत्तर अब कहतेहै—.

अनुग्रहाय भक्तानां मानुष देहमाश्रित ।
भजते तादृशी· क्रीडा या' श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥३७॥

श्रीकृष्ण भगवान् की यह प्रतिज्ञा है की "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**" "**जो पुरुष जिस प्रकार से मेरे आश्रयमें आवै में उसे उसीप्रकारसे फल देकर उसका हित करता हूं**", भगवान् के आश्रयमें जानेके प्रकार अनन्त होसक्ते है। कोई तो विहित शास्त्रोक्त प्रकार के द्वारा भगवान् के शरणमें जाता है तो कितने ही अपने स्वरूप और स्वभाव के परवश होकर अविहित (निषिद्ध या अनुक्त) प्रकार से भी प्रभुके समीप जातेहै। कर्म ज्ञान और भक्तिके प्रकार विहित है किन्तु काम द्वेष भय आदिके प्रकार अविहित है। भगवान् तो विहित और अविहित दोनोंके प्रकारों से सबका हित करने में समर्थ है। क्योंकि भगवद्दृष्टिसे सबभाव समान है। विहित प्रकार में प्रभुको इतना अनुग्रह नहीं करना पडता, जितना कि अविहित प्रकारमें जब कोई पुरुष या जीव अविहित प्रकारसे प्रभुके आश्रयमें आता है

तथाप्येवकरणे कोऽभिप्राय इति चेत्, तत्राह-अनुग्रहायेति। भक्तानामनुग्रहायमेव भक्तसमानरूप देहमाश्रित । विजातीये तथा विश्वासो न भवेदिति । ततो यथा मनुष्यानुग्रहाय मानुषो देह· प्रदर्शित, एव गोपिकानामप्यनुग्रहाय स्वानन्द गोकुले दातु तादृशीः क्रीडा भजते । तत्तद्धर्मप्रवेश व्यतिरेकेण तस्य तस्य दोषस्याऽनिवृत्तत्वात् । तदाह, या. श्रुत्वा तत्परो भवेदिति ॥ ३७ ॥

श्रीसुबोधिनी ।

तब भगवान् को विशेष अनुग्रह करना पडता है । अविहित प्रकारसे आश्रयमे आने पर प्रभुको अपनी स्वरूपमर्यादा और भक्तकी शास्त्रोक्त-मर्यादा का परित्याग करके और कराकर फलदान करना होता है । इस लिये यह प्रकार वहुतही अनुग्रहका है । यद्यपि अपनी मर्यादा, शास्त्रोक्त-मर्यादा, एव भक्तकी मर्यादा को छोडने और छुडाने मे प्रभुको किसी प्रकारका दोष, हानि, किंवा श्रम नही होने तथापि इतना करना तो पडता ही है , क्योंकि वह प्रकारही इस प्रकारका है ।

भक्तविषयक अपने अनुग्रहके वश होकर भगवान्को आनन्दमय मनुष्याकार श्रीविग्रहमें थोडे समय रहना पडा , और फिर मनुष्योंको प्रिय लगें इसलिये मनुष्य सजातीय उसमें भी तत्तत्स्वभाव सजातीय क्रीडा (लीला) ए करनी पडी । प्रभुकी मनुष्य सजातीय लीलाओ को देख और सुनकर भक्तलोग अपने आप भगवत्पर भगवन्मय होजाते है, और भगवन्मय होने से उनका उद्धार होजाताहै । इस प्रकार जीवमात्रका उद्धार करने के लिये ही पूर्णपुरुषोत्तमका आविर्भाव (जन्म) है । ' **सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा कृष्णः प्रादुर्बभूव ह** " । पुष्टिमार्ग स्थित होकर ही प्रभुने अपने आनन्दस्वरूपको मनुष्य आकार मे प्रकट कर रासलीला प्रभृति मनुष्य सजातीय तत्तद्भक्त सजातीय लीलाये करी, और इस अविहित प्रकार से भी उनका उद्धार किया । " **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्** " ।

पहले अन्तर्गृह गोपियोंके उद्धार करने की कथा पर राजा परीक्षितने शुकदेवजी से ऐसाही एक प्रश्न किया कि " ब्रह्मन् गोपाङ्गनाओंका श्री-

कृष्णमें पतिभाव किंवा जारभाव ही था ब्रह्मभाव तो थाही नही, फिर प्राकृतभाव रखने वाली इन गोपियों का मोक्ष कैसे हो गया ? यह मेरा सन्देह आप दूर करें '।

इसका उत्तर देते समय श्रीशुकदेवजी ने कहा कि—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ॥
अव्ययस्याऽप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥ १४ ॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा ॥
नित्यं हरौ विदधते यान्ति तन्मयतां हि ते ॥ १५ ॥

राजन् ! इस विषयमें आश्चर्यकी कोई बातही नही हैं। भगवान् श्री-

अत्र मुख्यामुपपत्तिमाह-नृणां निःश्रेयसार्थायेति । प्राणिमात्रस्य मोक्षदानार्थमेव भगवान् अभिव्यक्तः। अत इयमभिव्यक्तिर्निःश्रेयसार्थैव, अन्यथा न भवेत् । असाधारणप्रयोजनाभावात् । भूभारहरणादिकं चान्यथापि भवति । प्रकारान्तरेण तादृशस्य नाभिव्यक्ति सम्भवतीति वक्तु भगवन्त विशिनष्टि-आदौ भगवान् सर्वैश्वर्यसम्पन्नोऽपराधीन· कालकर्मस्वभावाना नियामक· सर्वनिरपेक्षः किमर्थमागच्छेत् । किञ्च, स्वार्थगमनाभावेपि परार्थं वा स्यात्तदपि नास्तीत्याह, अव्ययस्येत्यादि चतुर्भि पदैः । अन्येषां कृतिसाध्य ज्ञानसाध्य वा यद्भवति तदुपयुज्यते । भगवास्तु अव्ययत्वान्न कृतिसाध्यः । अप्रमेयत्वात् ज्ञानसाध्योपि न । देहादिभजनद्वारा भजनीयो भविष्यतीत्यपि न यतो निर्गुण. । गुणेषु विद्यमानेष्वेवान्यस्य प्रतिपत्तिस्तत्र भवति । अतो भगवतः सेवकपूरणीयाश· कोपि नास्तीति भजनीयोपि न भवति । किञ्च । लीलार्थं यद्यपेक्षेतापि, तथापि सर्व (जगत) तस्यैव (लीलेतिशेषः) यत. सर्वगुणानां स एवाऽऽत्मा । अत स्वपरप्रयोजनाभावात् यदि साधननिरपेक्षां मुक्तिं न प्रयच्छेत्, तदा अभिव्यक्तिः प्रयोजनरहितैव स्यात् ॥ १४ ॥

श्रीसुबोधिनी ।

कृष्ण साक्षात्पूर्णब्रह्म हैं, अत एव उनके स्वरूपसम्बन्धमात्र करने वालों का मोक्ष होजाय इसमें सन्देह ही क्या है। साधनरहितों को मुक्तिदान करने के लिये ही सच्चिदानन्द श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव हुआ है। जिसतरह श्रीकृष्णकी अनवतार अवस्था में लोकका मोक्ष होनेके लिये निर्गुण ज्ञान और भक्ति ये दो साधन है, इसीतरह उनकी अवतार अवस्थामें उनका स्वरूप ही मोक्षका साधन है। ज्ञानके द्वारा और भक्तिकेद्वारा भगवान् का साक्षात्कार (प्रादुर्भाव) होताहै, और भगवान् जब प्रकट होजातेहैं तो जीवका मोक्ष होजाता हैं। किन्तु अवतार अवस्थामें श्रीकृष्ण भगवान् का आविर्भाव तो स्वतः सिद्ध है, उस समय ज्ञान और भक्ति की अपेक्षा नही है। उस समय तो उस स्वरूप से संबंध करने की अपेक्षा हैं।

एव सति येन केनाप्युपायेन य एव सम्बद्ध्यते, तस्यैव मुक्तिर्भवतीति आह कामभिति। कामादय· षट् साधनानि भगवत्सम्बन्धे। तत्र कामः स्त्रीणामेव, क्रोधः शत्रुणामेव, भय बध्यानामेव, स्नेह. सम्बन्धिनामेव, ऐक्यं ज्ञानिनामेव, सौहृदं भक्तानामेव, पूर्वसिद्धज्ञानभक्त्यो नात्रोपयोगः। तेषा मर्यादयास्वतन्त्राविर्भावस्य नियतत्वात् एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वन्यायेन निर्णय.।

तादृशी भावनां कुर्यात्कामक्रोधादीभिर्यथा।
पूर्वप्रपञ्चविलयो यथाज्ञाने तथा यतः॥ १५॥
अतो निरोधो भक्ताना प्रपञ्चस्येति निश्चयः।
यावद्बहि· स्थितो वह्निः प्रकटो वा विशेन्नहि॥
तावदन्त.स्थितोऽप्येष न दारुदहनक्षमः!
एव सर्वगतो विष्णुः प्रकटश्चेन्न तद्विशेत्॥
तावन्न लीयते सर्वमिति कृष्णसमुद्यमः!
प्रपञ्चाभावकरणाद्व्रजहारेति निश्चयः!

दशमस्कंधसुबोधिनीप्रारम्भकारिकाः।

वह स्वरूपही अपने सामर्थ्य से संबंध करने वालों की मुक्ति करता है। वहां भक्तिज्ञानादि साधनों की आवश्यकता नही है। इस लिये प्रकट श्रीकृष्ण के स्वरूप से जो कोई (जीवमात्र) किसी प्रकार से (बिहित या अविहित) भी संबध करैगा वही मुक्ति को प्राप्त होगा यह निश्चय है। भूभारहरण, धर्मस्थापन और अधर्मनिरास कार्यतो परब्रह्म के अंशों के द्वारा भी होसक्ता था और हुआ भी है। परशुराम व्यास प्रभृति अंशावतारोंने ये कार्य किये है। किन्तु श्रीकृष्ण परमात्मा का प्रादुर्भाव तो खास साधन रहितों को मोक्ष दानार्थ ही हुआ है। इस विषय को सिद्ध करनेके लिये श्लोक में भगवान् के पांच विशेषण हेतुरूप दिये गये हैं। **भगवतः अव्ययस्य अप्रमेयस्य निर्गुणस्य और गुणात्मनः**। जहां छ ऐश्वर्यादि धर्मनित्य और स्वाभाविक रहते हों वह भगवान् है। भगवान् सर्व निरपेक्षऔर कालकर्म तथा स्वभावके भी नियामक है उन्हें प्रकट होनेकी क्या आवश्यकता थी।

कदाचित् कोई कहे कि अपने किसी मतलबके लिये, चाहे भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट न हों किन्तु दूसरों के उपयोगमें आने के लिये तो उनका प्रादुर्भाव होना चाहिये, इसके उत्तर में विशेषण हैं **अव्ययस्य अप्रमेयस्य**। जो किसी का कृतिसाध्यहो अथवा ज्ञानसाध्य हो वही दूसरों के उपयोगमें आता है भगवान् तो अव्यय है अविकार है इस लिये कृतिसाध्यहो नहीं है। वह अप्रमेय है अर्थात् किसी प्रमाणके द्वारा भी समझाया नही जासक्ता इसलिये भी उनको कोई उपयोग में कैसे लावे ?

कदाचित् कोई कहे कि भजनीय तो हो सक्ते हैं न ?। तो फिर भजनके द्वारा दूसरों के उपयोगमें आने के लिये भगवान् के प्राकटच की

अपेक्षा है ही, इसके उत्तरमें कहते है कि " **निर्गुणस्य** "। जो सगुण पदार्थ होता है वही भजनीय होता है भगवान् तो निर्गुण हैं इस लिये भजनीय भी नहीं होसक्ते। लीला (क्रीडा) करने के लिये कदाचित् भगवान् के प्रादुर्भाव की अपेक्षाहोसक्ती है पर सो भी इतनी अपेक्षित नही है क्योंकि गुणोंका आत्माउपादान भी श्रीकृष्णही है। सम्पूर्ण जगत् ही उसकी क्रीडाहै। वह अनभिव्यक्तअन्तःस्थितरहकर भी जगत् रूपसे लीला करही रहाहै फिर उसे बाहर प्रकट होकर इस प्रकार की लीलाकरने की आवश्यकता भी नहीं है। ऐसी अवस्था में यदि भगवान् अपने स्वरूप सम्बन्ध द्वारा जीवमात्रको साधन निरपेक्ष मोक्षदानभी न करें तो उनका (श्रीकृष्णका) प्रादुर्भाव ही व्यर्थ होजाता है। इसलिये मानना पडेगा कि श्रीकृष्ण परमात्मा अपने सम्बन्ध मात्र से जीवमात्र को साधन निरपेक्ष मोक्ष देनेके लिये प्रकट हुऐ हैं।

गोपाल तापिनी उपनिषत् नारायणोपनिषत् प्रभृति उपनिषदोंसे तथा " **मत्त परतरं नान्यत् त्किंचिदस्ति धनंजय** "। **अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा** "। " **यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।** " " **अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल** " " **कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्** " " **त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोकम्** " आदि स्मृतिपुराण वाक्यों से यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्णही पूर्ण परब्रह्म का अवतार है। तो अब जो कोई उसके साथ किसी तरह से भी सम्बद्ध होगा उसका ही मोक्ष होगा। काम क्रोध

भय स्नेह ऐक्य और सौहृद (जातीयता के सब सम्बन्धभी) आदि धर्म भी श्रीकृष्ण में सम्बन्ध करने कराने के अनेक प्रकार हैं। इन प्रकारों के द्वारा जिन जिन (गोपी शिशुपाल आदि) ने श्रीकृष्ण से सम्बन्ध किया उन उनकी मुक्ति हुई यह इतिहास से सिद्ध है।

यहां स्नेह शब्द वात्सल्यादि लौकिक स्नेह का वाचक है , इसलिये " **कामं क्रोधं** " आदि श्लोकमें कहे गये सबही प्रकार अविहित है, प्रत्युत कितने ही निषिद्धभी हैं। श्रीगोपीजनों ने श्रीकृष्ण के स्वरूपसे काम प्रकारके द्वारा सम्बन्ध कियाथा इस लिये उनकी भी मुक्ति हुई।

कभी कभी प्रभु अपन भक्तों के दोष निवृत्ति के लियेभी ऐसी लीलाऐं करते है। उनके अन्दर अपने स्वरूप और धर्मोंका प्रवेश कराये बिना दोष निवृत्ति नही होसक्ती। इसलिये उन उन लीलाओं के द्वारा अपने स्वरूप किंवा धर्मका उनमें प्रवेश कराकर दोषोंकी निवृत्ति कर उन्हें तन्मय आत्मरूप कर देते है। जो अग्नि काष्ठ में ही सर्वदा रहता है तथापि वह काष्टका काष्ठत्व दूरकर उसे अग्नि रूप नही बना सक्ता, किन्तु जब वह काष्ठसे बाहर होकर फिर उसी काष्ठमें प्रवेश करै तब काष्ठकी काष्ठत्वनिवृत्ति होजाय और उसेअग्नि रूपता प्राप्तहो। इसी तरह भगवान् श्रीकृष्ण सर्वत्र बिराजते हैं पर सबमें से बाहर प्रकट होकर फिर उनमें लीलाओंके द्वारा प्रवेश करते है तब उनका प्राकृतत्व दूर होकर वे भगवन्मय होजाते हैं यही उनका उद्धार है।

भगवान् से सम्बन्ध होने में छः साधन है। काम स्त्रियोंको, शत्रुओंको क्रोध, मारणीयों को भय, स्नेह सम्बान्धिबांधवों को, ज्ञानियों को ऐक्य

और भक्तों को साह्र्य होताहै । नि.य निरन्तर ये भावनायें रहने से सर्वत्र विद्यमान भगवान सर्वत्र प्रकट होजाता है अत एव वे भी भगवन्मय होजाते है ।

जीवेऽन्तःकरणे चैव प्राणेष्विन्द्रियदेहयोः ।
विषयेषु गृहेऽर्थे च पुत्रादिषु हरिर्यतः ॥
तादृशीं भावनां कुर्यात् कामक्रोधादिभिर्यथा ।
पूर्वप्रपञ्चविलयो यथाज्ञाने तथा यतः ॥

प्रकार अनेक है तथापि सबमें मनही साधन है वही जब अनवरत भगवन्मय रहताहै तब फिर भगवन्मयता होनेमें और उद्धार होने में कोन सन्देह है । श्रीगोपीजनोंका काम प्रकारके द्वारा मन भगवन्मय सदा रहता था यह प्रसिद्धही है—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥

श्रीगोपीजनोंका अपनी, अपने घरकी और गृहसम्बन्धी वस्तुओंकी कुछ खबरही नही थी । अस्मरणमें हेतुभूत पांच विशेषण है, **तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः, तद्गुणानेव गायन्त्यः** । स्मरण मनमें होता है वह मनतो भगवान् में लगा रहता था । किसी औरके द्वारा घरबारका स्मरण क्यों न हुआ इसका उत्तर यहहै कि—**तदालापाः** । और गोपियां भी जो कभी अन्यवार्ता करती तो घरबारका स्मरण होसक्ता था, पर वहां तो सबकी सब भगवान् की ही बातें किया करती थी । कदाचित् किसीको यह प्रश्न हो कि देहसम्बन्धिनी क्रियायें तो आवश्यक होतीहैं जब भूखप्यास लगती होगी तब तो घरद्वारका भान होताही

होगा, तो उसका उत्तर देतेहै कि, '**तद्विचेष्टाः**' भगवल्लीलाओंमें ही निमग्न रहती थी इसलिये उन्हें कुछ याद नहीं होता था। यहां एक प्रश्न उठताहै कि ज्ञानमात्र में आत्मांशका स्फुरण तो अवश्यही होता है। घडेको में जानताहुं, और वस्त्रकों भी में जानताहुं, तो फिर उन्हें भगवान्‌का स्मरण होते समय अपने आपका स्मरणभी क्यों न हुआ ? इसका उत्तर देतेहै कि '**तदात्मिका.**' रात्रिदिन श्रीकृष्णकी सर्वत्र भावना होते होते उनका अपनपा (आत्मा) भी श्रीकृष्ण ही होगया इस लिये उन्हें श्रीकृष्णस्मरणके समयभो आत्मा किंवा गृहादिका स्मरण नहीं होताथा। फिरभी एक शंका रहती ही है कि '**सदृशाऽदृष्टचिन्ताद्याः स्मृति-बीजस्य बोधका.**' इस न्यायसे अदृष्टद्वारा उन्हें गृह और अपने आपकी याद क्यों न रही, इसका प्रत्युत्तर देतेहै कि '**तद्‌गुणानेव गायन्त्यः**' वे सर्वदा भगवान्‌ के गुणोंका ही गान करती रहती थी भगवद्‌गुणगानसे उनके सब दुष्ट अदृष्ट नष्ट होचुके थे अत एव दुरदृष्टद्वाराभी उन्हें गृहादिका स्मरण नही हुआ। इस तरह श्रीगोपीजनोंको कामप्रकारद्वारा नित्यनिरन्तर श्रीकृष्णकी ही भावना रहने से उनका उद्धार हुआ।

श्रीकृष्णका यह गोपाङ्गनाओंका सम्भोग प्रकार, यद्यपि देखने में अविहित है तथापि निषिद्ध प्रकार नही है। क्योंकि प्राकृतकोही प्राकृतका ऐसा सम्भोग निषिद्ध होताहै, अप्राकृत अलौकिकका नही। यदि श्रीकृष्णके स्वरूप देह इन्द्रियादि प्राकृत होते, यदि श्रीगोपीजनोंके भी वे प्राकृत होते तबतो उन दोनोंका यह परस्पर सम्भोग प्रकार निषिद्ध होता किन्तु सो तो है नही। भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्महै; और गोपीजनोंके भी प्रायः स्वरूप देहेन्द्रियादि अप्राकृत थे।

इस बातको समझ लेनेके लिये हमें थोडा विवरण करना पडेगा। परब्रह्मके स्वरूपमें जो आनन्दहै वही आकारहै उस आनन्दको वे समय समय पर अपनी इच्छानुकूल अनेक आंकारोमें बदलते रहतेहैं। जब उन्हें मनुष्योंमें अवतार लेना होताहै, तब अपने उस आनन्द धर्मको मनुष्याकार दिखातेहैं जिससे मनुष्यादिकी उनमें रति होतीहै। यही बात '**सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्**' इस गीतोपनिषत् में कही है। अर्थात् परब्रह्मके देहेन्द्रियादि होते नही तथापि वे अपने स्वरूपमेंही देहेन्द्रिय और उनके धर्मोका आभास दिखातेहै। इस लिये श्रीकृष्णके स्वरूपमें देहेन्द्रियादि दीखते है तो भी वे आनन्दमय और स्वरूपभूत ही है। श्रीराधिका प्रभृति गोपाङ्गनाओंका वर्णन कल्प कल्पके अनुसार अनेक पुराणोंमें आयाहै। श्रीमद्भागवत परमहंस संहिता है इसमें प्रधान तया श्रीकृष्णका ही निरूपणहै किन्तु कृष्णकथाङ्गरूपसे कही कही संक्षपमें श्रीगोपाङ्गनाओंका भी वर्णन है ही। गोपाङ्गनाओंका विस्तारपूर्वक वर्णन अन्य पुराणोमें हैही इस लिये श्रीमद्भागवतमें भी उनका विस्तृत वर्णन करनेकी आवश्यकता नही रही। अत एव श्रीराधिका का वर्णन गुप्त रीति से यहां आयाहै। पुराणों में श्रीगोपीजनोंका निरूपण भिन्न भिन्न प्रकारोंसे है इसका कारण भाषाभेद और कल्पभेदहै। पुराणों का पाठ करते समय भाषाभेद और कल्पभेद का स्मरण रखनेसे बहुतसे बिरोध दूरहो जाते हैं।

महानुभावोंने श्रीगोपीजनों के चार यूथ (विभाग) माने है। नित्य सिद्धा, श्रुतिरूपा, ऋषिरूपा और प्रकीर्णा (अभिषप्ता आदि)। इन चारभेदों में भी फिर सबके दो भेद हैं अन्यपूर्वा और अनन्यपूर्वा। फिर उनमें भी फिर दो भेद है प्रेममयी (आनन्दमयी) और कामांशवती

(प्राकृतत्वयुक्ता)। इन भेदोंको ध्यानमें रखने से रासलीला विरोध परिहार में बहुतसा सहारा मिलेगा ।

नित्यसिद्धा गोपाङ्गनायें तो भगवान् का ही एक रूपान्तरहैं । श्रीमद्भागवत द्वितीयस्कन्ध में जहां श्रीशुकदेवजीने अपने इष्टदेवका स्मरण किया है वहा ' **नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां** ' इस श्लोकमें श्रीराधिका को नित्यसिद्धा और भगवान् का रूपान्तर कहाहै ।

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥

जो कि अकिञ्चन भक्तोंका नाथ है, कुयोगियों को जिसकी दिशाभी नहीं मिलती, और जो अपने अक्षरब्रह्म मन्दिर में अपनी अनुपम राधस (राधिका) सिद्धिके साथ रमण करता रहताहै, उस अपने स्वामीको मैं वारंवार नमस्कार करताहूं । ' **निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा**) भगवान् की कोई सिद्धि राधस् कही गई है, और वह अनुपमहै । अर्थात् कहीं भी न तो उसके बराबर है और न उससे कोई बढकर है ।

पूर्णपुरुषोत्तमका स्वरूप आनन्दमय रसमयहै, यह बात ' **रसो वै स.** ' ' **आनन्दो ब्रह्म** ' ' **सत्यं विज्ञानमानन्द ब्रह्म** ' इत्यादि श्रुतिया कहरहीहैं । पर वह परब्रह्मरूप रस स्वयं प्रकाशभी है । अपने रसका अनुभव वह आपही कर सक्ताहै इसी लिये दूसरी श्रुतियां कहती है । कि ' **यतो वाचो निवर्तन्ते** ' ' **नेति नेति** ' अर्थात् ब्रह्मरस न तो वाणीसे कहा जासक्ता और न किसीके मनमें आसक्ता । और न वह लोक प्रकारकहै। किसीका भी अनुभव करने में तीन पदार्थोंकी आवश्यकता रहतीहै, ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान (समझ)। पर रसरूप पुरुषोत्तम एक है अद्वितीय है इसलिये

अपना अनुभव करते समय वह आपही तीनों होजाताहै । अनुभव करने का विषय (रस्य) भी जब आपही होजाताहै तब उस रूपान्तरापन्न भगवान् रूप विषय [रस्य] को ही राधस् या सिद्धि कहतेहै । व्याकरणवेत्ताओंको मालुमहै कि राध् धातुका भावप्रत्यय सहित राधा शब्दहै। अर्थात तद्रूप होजाना । और सिद्धिशब्दकी भी व्युत्पत्ति वैसी ही है और अर्थभी वही (तद्रूपापत्तिः)। राधस् कहो, राधा कहो , राधिका कहो, चाहे सिद्धि कहो सबकातात्पर्यार्थ एक ही है। ' भगवत सिद्धिः ' भगवान् की सिद्धि का अर्थ राधस् या राधा ही होताहै । षिध् धातुसे भावमे क्ति करदेने से सिद्धि शब्द सिद्ध होता है । और उसका भी अर्थ रूपान्तरापत्तिः किंवा तद्रूपापत्तिः होताहै । अब भगवतः सिद्धिका स्फुट अर्थ यह होताहै कि भगवान् का रूपान्तर ग्रहण करना । विद्वानों ने सब रसोंमें श्रेष्ठ, किंवा सब रसोंका आत्मा शृङ्गारको ही मानाहै। शृङ्गारके अधिदेवता श्रीकृष्णहै।

पूर्ण पुरुषोत्तमरूप वह अनिर्वचनीय अनुपम रस अपनी अनवतार अवस्थामें इस प्रकार राधस् सिद्धिके द्वारा अपने रसका स्वाद लेता रहता है, यही उसका रमणहै । ' रंस्यते नम ' । किन्तु जब वह स्वेच्छया अवतार लेताहै तब अपनी उस सिद्धिको भी स्वरमणार्थ भूतल पर प्रकट करताहै । जब श्रीयशोदा से (यशोदामें नहीं) अनुपम अनिवर्चनीय उस रसका प्रादुर्भाव हुआ तो उसके पहले उसी प्रकार से राधाष्टमीको कीर्तिसे राधिका नामक राधस् सिद्धिका भी आविर्भाव हुआ ।

यह राधस् राधा राधिका किंवा सिद्धि, श्रीपुरुषोत्तमकी नित्यसिद्धा प्रियाहैं । कहनेका आशय यह है कि शृंगार रसरूप भावना में जब पुरुष

अपनी प्रियाकी भावना करताहै तो अपने भावको ही स्त्रीरूप देताहै, भावको स्त्रीरूप बनाये बिना स्त्रीकी भावना होही नही सक्ती । इसीतरह जब स्त्री अपने प्यारेकी भावना करतीहै तब उसेभी अपने भावको पुरुष रूप दिये बिना काम नही चलता । स्त्री के हृदयमें भावात्मक पुरुषहै और पुरुषके हृदयमें भावात्मक स्त्री रहतीहै । भावपदार्थ नित्य सिद्ध है, रसरूप है इसलिये वे तत्तद्रूपापन्न स्त्री पुरुष दोनों ही नित्यसिद्ध और रसरूप है । श्रीकृष्णकी नित्यसिद्धा प्रिया श्रीराधिकाहै और श्रीराधिका के नित्यसिद्ध प्रिय श्रीकृष्णहैं । श्रीराधिका सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि प्रथमा सिद्धि है ।

रसकी भावनायें एकही प्रकारसे नही होती किन्तु शृङ्गारकी भावनायें अगणित हो सक्ती है, इसलिये नित्यसिद्धा प्रियायें भी बहुतसी है । उनका एक यूथहै और उसकी स्वामिनी श्रीराधिका है । भक्तलोग श्रीराधिका को मुख्यस्वामिनी शब्दसे आह्वान करते हैं । यह हमने नित्यसिद्धा गोपियोंके विषयमें कुछ संक्षेपसे कहाहै, ये सब गोपिका अनन्या किंवा अनन्यपूर्वा है इन गोपियोंके देहेन्द्रियादि आनन्दमय अप्राकृतहै और इनमें कामांश नहीं है ।

अब श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाओंके विषयमें सुनिये । वेदके वाक्योंको श्रुतिभी कहते है । " **अग्निमीले पुरोहितम्** " आदि श्रुतियां (मन्त्र) सब परब्रह्म (श्रीकृष्ण) का ही अनेक रूपोंसे वर्णन करतीं है यह मीमांसासिद्ध वैदिक अर्थहै । क्योंकि इन्द्र, अग्नि, चन्द्र प्रभृति सब देवगण परमात्माके ही भिन्न भिन्न अवयव किंवा रूपान्तरहैं यह बात मीमांसा सूत्रोंद्वारा श्रीवेदव्यासने सिद्धान्त कर दिया है इसलिये यह स्पष्ट है कि

उन उन देवोंका वर्णन करने वाली श्रुतियां भी भगवान् का ही निरूपण करतीहै । इसी तरह कर्म विषयिका श्रुतियां ज्ञान विषयक श्रुतियां और भक्ति विषयक श्रुतियां सबकी सब परब्रह्म परमात्माका ही अनेक रीतिसे निरूपण करतीहैं । जिसतरह पूर्वोक्त श्रुतियां ईश्वरका किसीके द्वारा वर्णन करती हैं इसी प्रकार " **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** " आदि श्रुतियां केवल परब्रह्मका परभारा सीधा निरूपण भी कर रही हैं ।

जो श्रुतियां पूर्वमें (आपाततः) अन्य देवोंका किंवा साधनोंका वर्णन करते रहते भी मीमांसाद्वारा सिद्धान्तमें पूर्णब्रह्मकाही निरूपण करने वाली सिद्ध होतीहै, उन्हे अन्यपूर्वा श्रुति कहते है । और जो श्रुतियां परभारा केवल परब्रह्मका ही वर्णन करती है वे अनन्यपूर्वा किंवा अनन्या श्रुति कहाती है ।

अनन्या किं वा अन्यपूर्वा दोनों तरहकी श्रुतियोंका यह सामर्थ्य नहीं है कि वे भगवान् के अनुग्रह बिना या उसकी इच्छा बिना उसका वर्णन कर सकें । उसमें भी शृङ्गाररसरूप श्रीपुरुषोत्तमका तो अनुभव या वर्णन उसके अनुग्रह बिना वे किसी तरह भी नहीं कर सक्तीं, क्योंकि रसका स्वभाव ही स्वयंवेद्य है । इसलिये एक समय उन सब श्रुतियोंने श्रीपुरुषोत्तमसे प्रार्थना करी कि हे भगवन् ! जिस प्रकारसे नित्यसिद्धा गोपिकायें आपके स्वरूपका अनुभव करती है, उसी प्रकारसे हमभी आपके स्वरूपका अनुभव करें ऐसा हमें आप वर प्रदान कीजिये । भगवान् श्रीपुरुषोत्तमने उन्हें वर दिया कि इस समय तो नही पर सारस्वतकल्पमें तुम लोग वृन्दावनादि व्रजमें गोपी होकर मेरी प्रिया होओगी. और मैं

तुह्मारा प्रिय होऊंगा। वहां मैं तुह्में अपने स्वरूपानन्दका अनुभव कराऊंगा। यह कथा बृहद्वामनपुराण में है। तदनुसार उन दोनों तरहकी श्रुतियोंको अपने स्वरूपानन्दका अनुभव कराने के लिये व्रजमें भगवान् ने जन्म दिया। और आपभी प्रकट हुए। श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाओंका भी एक यूथ है। इस यूथकी अर्थात अन्यपूर्वा गोपाङ्गनाओंमें से कितनीही गोपियों में कुछ आभासित कामांश है, अत एव कुछ प्राकृतत्व भी है। क्योंकि इन श्रुतिओका प्रतिपाद्य कार्य के द्वारा कारणहै। आपाततःकार्यही प्रतिपाद्य मालुम पडताहै। श्रीरामावतार में जब मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र दण्डकारण्य में पधारे तब उनके सौन्दर्यको देखकर दण्डकारण्यवासी ऋषिकुमारोंका मन प्रभु पर मोहित होगया। श्रीरामचन्द्रने उनके हृदकी भावनाको समझकर आज्ञाकी कि इस अवतार में तुह्मारा मनोरथ पूर्ण होना असम्भवहै पर कृष्णावतार में तुह्मारी इच्छापूर्ति होगी। श्रीकृष्णावतारमें ये ऋषिकुमार गौड़ देशमें गोपजातीके स्त्री जन्ममें पैदा हुए। वहां से श्रीनन्दरायने इन्हे लाकर कंसको देनेके लिये अपने यहाँही रक्खा था। इनकाभी एक यूथ था। ये अनन्यपूर्वा और कामांशवती थी। इसलिये इनमें भगवद्भोग्य प्राकृतत्वभी है। क्योंकि ये ऋषिरूपा हैं।

श्रीगोपीजनोंका चौथा यूथ प्रकीर्णक है। इस यूथ में '**सम्भवन्तु सुरस्त्रियः**' इस वाक्य से देवाङ्गना तथा अभिषप्ता वाणी आदि, अनेक रूपान्तरापन्न गोपियाँ हैं। इनमें भी कामांश और प्राकृत्व हैं। इतने विवरणसे यह सिद्ध हुआकि नित्यसिद्धा श्रीराधिका प्रभृति श्रीगोपीजन आनन्दमय अप्राकृत अत एव भगवद्रूप हैं उनके साथ भगवान्‌की यह सम्भोगलीला किसी तरह

भी दोषयुक्त नहीं होसक्ती। इनके साथ जो लीला कीगई है। **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्तथैव भजाम्यहम्'** इस प्रतिज्ञाके अनुसार स्वेच्छासे की गई है, और लोकमें प्रेममार्ग किंवा भक्तिमार्गका आदर्श स्थापन करने लिये।

श्रुतिरूपा गोपिकाओंका जो भगवान् ने सम्भोग कियाहै वह उनके आभाषित प्राकृतत्व और कामांशको दूर कर उन्हें अपने स्वरूपानन्दका अनुभव कराने के लिये था। यह बात उनकी वरदान कथासे सिद्धहै। और उसका प्रकार **' तासां कामस्य सम्पूर्तिर्निष्कामेनेति तास्तथा '** इत्यादि कारिकाओंमें तल्लीला प्रारम्भ में ही कह दियाहै।

ऋषिरूपा गोपियोंका सम्भोग तथा प्रकीर्णा गोपियोंका सम्भोग उनमें से प्राकृतत्व एवं कामांशको दूरकर उनको आनन्दमय बनाकर उद्धार के लियेथा। अप्राकृत पदार्थ प्राकृतका प्राकृतपन दूरकर उसे अप्राकृत कर देताहै इसकी श्रौत युक्ति अग्नि और सूर्यका दृष्टान्तहै। सूर्य भगवान् कीचड प्रभृतिके मलांश को प्राकृतत्व को खेंचकर उसे तेजोमय बना अपने स्वरूपमें सम्मिलित कर लेता है। अर्थात् प्राकृतको अप्राकृत बनाकर उसका उद्धार करदेताहै। अग्निभी इसी तरह काष्ठादि पदार्थ में घुसकर उसे अपना रूप दे देता है। यही बात श्रीवल्लभाचार्यश्रीने निरोधस्कन्ध (दशम) की प्रारम्भिक कारिकाओं में कही है—

यावद्बहिः स्थितो वह्निः प्रकटश्चेन्न तद्दिशेत्।
तावदन्तः स्थितोऽप्येष न दारुदहनक्षमः॥
एवं सर्वगतो विष्णुः प्रकटश्चेन्न तद्दिशेत्॥
तावन्न लीयते सर्वमिति कृष्णसमुद्यमः।
रूपान्तरन्तु नटवत् स्वीकृत्य त्रिविधान्निजान्।

प्रपञ्चाभावकरणादुज्जहारेति निश्चयः ॥

वह्नि सर्वत्र विद्यमानहै अतएव काष्ठमें भी है हीं किन्तु अन्तःस्थित रहते भी वह काष्ठको काष्ठत्व दूर कर अग्नि नही बना सक्ता। इसी तरह यद्यपि परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र विद्यमानहै अतएव ब्रजजनामें भी हैहीं तथापि उस रूपसे वे उनका प्राकृतपन दूरकर स्वरूपका दान नही करते, इस लिये कृष्णकी सब लीलाये है। अर्थात् वह परमात्मा श्रीकृष्णरूप धारण कर और विविध (रास लीलादि) लीलायें करके अपने स्वकृत (वरदानादि द्वारा) तामस राजस सात्विक भक्तोके प्रपञ्चका (प्राकृत तत्वका) विलय करते है तथा अपना स्वरूप उनमें स्थापन कर उनका उद्धार करतेहै। यह एक लीलाका नहीं किन्तु सब लीलाओंका प्रयोजनहै।

अब यहां एक प्रश्न होता है कि भलें गोपाङ्गनाओंका देहादि अप्राकृत अलौकिक हो तथापि लोक व्यवहारमें गोपस्त्रिया गोप बालकों के अधीन थी और उनकी स्त्री कहलातीथी। किसी की वस्तुका उसकी आज्ञा बिना उपभोग करना निन्दित है। इस अदत्तोपभोगसे उनके हृदयमें भारी खेद ही हुआ होगा। इसप्रकार किसीको खेद पहुचाना ईश्वरके लिये भी शोभास्पद नही। और अपने पतिकी आज्ञाके बिना रात्रिके समय इस तरह अन्यत्र रहना यह गोपाङ्गनाओंके लिये भी अकीर्तिकर हुआ होगा। इस आक्षेपका उत्तरभी श्रीशुकब्रह्म देते है

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान्स्वान्दारान् व्रजौकसः ॥ ३८॥

भगवान् इस क्रीडासे व्रजवासी लोगोंको श्रीकृष्ण पर किंवा अपनी

ननु तथापि लोकव्यवहारे स्त्रियोऽन्याधीना इत्यदत्तोपादानं गोपाना मनसि खेद.॰

स्त्रियों पर किञ्चिन्मात्रभी असूया किंवा ईर्षा द्वेष न हुआ। क्योंकि वे श्रीकृष्णकी मायासे मोहित अपनी अपनी स्त्रियोंको अपने पासही सोती देख रहे थे, उन्हे यह तक खबर नहीं थी कि ये यहां से उठकर कहीं गई भी थीं क्या ? ।

" विष्णोर्माया भगवती कार्यार्थे सम्भविष्यति " इस वाक्यके अनुसार श्रीकृष्णके अवतारके साथ साथ भगवन्माया का भी अवतार श्रीयशोदा से हुआ है। क्योंकि भगवान् को उसके द्वारा अनेक कार्य करनेथे। जहां लीलामें आनन्द आनेकी अपेक्षा रहतीहै वहां आत्मीयजनोंको मोहित करने के लिये आत्ममाया वैष्णवीमायाकी अपेक्षा रहतीहै। यहां भी श्रीगोपबालकोंको श्रीगोपीजनोंको और श्रीनन्दयशोदाको भी भगवान् की मायाने मोहित कर रक्खाथा। गोपबालक ये समझ रहेथे कि ये स्त्रियां हमारीहैं, हमारे पासही रहतीहै, और आज भी यहांसे क्षणमात्रके लिये भी कही नही गई। श्रीनन्दयशोदा प्रभृति भी यही जानते रहे कि श्रीकृष्ण हमारे पासही सो रहाहै। और श्रीगोपीजनोंको भी अन्यान्य गोपियोंके आनेकी किंवा उनके साथ रमणकी बिलकुल खबर नहीं थी। वे प्रत्येक गोपी यह समझ रही थी कि मैं एकाकिनी ही श्रीकृष्णके पास आई हूं। इस बातको मूल श्रीमद्भागवत में "अन्योन्यमलक्षितोद्यमाः" पदसे सङ्क्षेपमें कह दियाहै। जहां जहां सब गोपियोंको ज्ञान करानेकी आवश्यकता रही वहां वहां

तैः क्रियमाणा अपकीर्तिश्च भवेदित्याशङ्क्याह-नासूयन्निति। ते भगवन्तं नासूयन्, प्रथमतः प्रवृत्तिं ज्ञात्वा विभगवन्मायया मोहिता नासूयन्, अग्रेतु स्वपार्श्वस्थानेव स्वान् स्वान् दारान् मन्यामना जाताः॥ ३८॥

श्रीसुबोधिनी।

ज्ञानभी होता रहा । श्रीशुकदेवजीने जो बहुवचनका प्रयोग कियाहै वह तो सङ्क्षेपमें कह देनेके लियेही कियाहै । सारा दशमस्कन्ध भगवल्लीलाओं का दिग्दर्शनमात्रहै । तात्पर्य यह है कि गोप और गोपी, कोईभी हो जिनके साथ जब जब जो जो लीला की गई थी उन उन लीलाओं के समय उन उनको उतनाही ज्ञान हुआ जितना भगवान् को कराना अभीष्टथा, अन्यदा वे भगवन्मायासे मोहित ही रहे । ऐसी अवस्थामें असूया ईर्ष्या किंवा निन्दाका अवसरही कहां रहता है ।

यहां तक हमने राजा परीक्षित और श्रीशुकदेवजीके प्रश्नोत्तर द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि ज्ञान वैराग्य पराक्रम ऐश्वर्य आदि ऐश्वर्योंके द्वारा जो ईश्वरों (महानुभावों) के चरित्र होते हैं वे कैसेभी हो उनका फलाफल उन्हे कुछभी नहीं लगता। उनके चारित्र जो हमे अनुचित मालुम देतेहैं वे हमारे अधिकार से अनुचितहै, उनके अधिकार से तो योग्यहै । भीमसेन किंवा भीमसदृश अन्य मनुष्य यदि ढाईमन अन्नका कलेवा करजाय, और यह देखकर आजकलका कोई दुर्बल वैद्य उसके उस कार्यको हानिकर कहे तो ठीकहै, वह अपने अधिकारसे कह रहाहै किन्तु वास्तव में तो पराक्रम के अधिकारसे तो वह अनुचित किंवा हानिकर नहीं कहा जासक्ता। गोवर्धनधारण दावाग्निपान, कालियदमन, कुवलीयापीड़ हनन प्रभृति कार्य जैसे श्रीकृष्णके ऐश्वर्य चरित्रहै इसीतरह एकही समय में सहस्रशः गोपाङ्गनाओंका सम्भोग करके निर्लेप अच्युतही रहना यहभी ईश्वरेश्वरचरित्र है। इस कार्यसे भी उन्हें किसी तरहकी हानि नहीं होसक्ती।

रासलीला कालियदमन दावाग्निपान कुवलयापीड हनन गोवर्धनधारण

प्रभृति कार्य श्रीकृष्णने अपने अधिकारके अनुसार किये हैं अतएव वे अनीश्वर साधारण जनताको अनुकरणीय नहीहै । श्रीकृष्णके वचनामृत सामान्यजनताके अधिकारानुसारहैं इसलिये साधारण जन समाजको उन के वचनो का ही अनुसरण करना चाहिये । इसतरह रासलीलामें किसी प्रकारसे भी कोई दोष नही आता । यदि कार्यकीउत्तमता या अधमताकी परीक्षाके लिये अपनी अपनी दृष्टि ही काफी समझी जायगी तो फिर उत्तम कार्य अधम और अधम कार्य उत्तम होजायँगे । परीक्षा होनाही कठिन होजायगा । कार्यमात्रकी परीक्षामें अधिकारभी अङ्गहै । ईश्वरोंके अधिकारसे सर्वसाधारणके अधिकारकी तुलना करना किंवा तदनुसार स्तुति किंवा निन्दा करना बेसमझ का ही कार्यहै । कार्याकार्यकी परीक्षामें स्वदृष्टिमात्र को परीक्षक बनानेमें बड़ी भूल होतीहै यह दिखाने के लिये ही श्रीकृष्णने आज्ञा की है कि ।

सर्वारम्भाहि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।

जब हम अपनी दृष्टिसे ही सब कार्योंका निरीक्षण करने लगें तो सब कामही दोषयुक्त दीखने लगेंगे ।

श्रीकृष्ण ईश्वरेश्वरहै कोई जीव समान्य नहीहै, तथा उनके प्रादुर्भाव लेने का एकही कारणभी नहीं है इसलिये मनुष्य दृष्टिसे किंवा किसी एक कार्यकी दृष्टिसेही उनके कार्योंकी विवचेना करना उचित नही होता ।

ईश्वरेश्वरके प्रकट होनेमें प्रधानगौण अनेक कारण होतेहैं । एककारण प्रधान रहताहै, और गौण कारण अनेक होतेहैं । वेदमें कहाहै कि " **प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः अजायमानो बहुधा विजायते, तस्य योनिं**

परिपश्यन्ति धीराः, तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा" यजुः श्रुतिः।

अनेक ब्रह्माण्डोंका मालिक परब्रह्म भगवान् अजन्मा रहता हुआही अपनी कृपाके परवश होकर कभी कभी देवकी कौशल्या आदि माताओं के गर्भमें अनेक रूपों से प्रकट होताहै। उसके जन्म लेने के (योनिं) कारणको विचारशील विद्वान् लोग परितः पश्यन्ति अनेक तरहसे देखतेहै, क्यों कि वह ईश्वरेश्वरही सम्पूर्ण जगत् का उपादानहै।

इसी श्रुतिके आशयको लेकर श्रीमद्भागवतकी श्रीकुन्ती की स्तुतिमें भगवत्प्रादुर्भावके कारणोंमेंमहात्माओंके बहुत से मत दिखायेहैं।

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम्॥
अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात्।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम्।
भारावतरणायाऽन्ये भुवो नाव इवोदधौ।
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः॥
भवेस्मिन्क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन॥
तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानाय कथ पश्येमहि स्त्रियः॥

यजुःश्रुतिके "अजायमानो बहुधा विजायते" "तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः" वाक्योंका विशद अर्थ इन पूर्वोक्तश्लोकोमें करदियाहै। अर्थात् इन श्लोकों का भी श्रुत्यनुसार यही तात्पर्यहै कि उस

अजन्मा परमेश्वरके अवतार लेनेके कारण महानुभावोंने अनेक बतायेहैं। श्रुति और पुराणमें जिसप्रकार परमेश्वरके प्रादुर्भावमें अनेक कारण कहेग येहैं इसीतरहसे भगवद्गीतोपनिषत्में भी श्रीकृष्णने अपने प्रादुर्भावके अनेकहीं कारण बताये है।

अजोपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

इस सब कारणोंकी संकलना यदि कीजाय तो पाच कारण सम्पन्न होते हैं स्वभाव, जगदुद्धार दुष्टमारण साधुरक्षण, धर्म स्थापन अधर्मनाश, वंशरक्षा, भूभारक्षपण। अपने स्वरूपका प्रवेश करके जगत् का उद्धार करना यह परमात्माके प्रकट होनेका असाधारण (प्रधान) कारणहै और सब गौण हैं। क्योंकि यह उनका स्वाभाविक धर्म है और स्वभाविक धर्म होनेसे ही (अजोऽपि सन्नव्ययात्मा) इस अपने प्रादुर्भावके श्लोकमें औरश्लोकों की तरह प्राकट्यका कोईभी कारण कण्ठरवत: नहीं कहा। (**यदा यदा हि**) श्लोकमें भी प्राकट्यका कारण स्पष्ट कहदिया और (**परित्राणाय**) श्लोकमें भी स्पष्टशब्दों में कहदिया, पर (**अजोऽपि**) श्लोकमें अपने प्राकट्यका कोई कारण न बताकर केवल (मेरा स्वभाव ही ऐसाहै) इतनामात्र ही कहा। इसका कारण इतनाही है कि प्रकृतिं स्वां

(स्वस्वभावं) अधिष्ठाय संभवामि ' अर्थात् (मैं अपने स्वभावको ही स्विकार कर) प्रकट होताहूं । जो स्वाभाविक बातहै वह प्रयोजनमें नही गिनी जासक्ती वह तो स्वरूपमें ही आजातीहै । अग्नि यदि किसी को जलादे तो वह जलानेके लिये ही प्रकटाई थी ऐसा कोई नहीं कहसक्ता, क्योंकि वह तो उसका स्वभावही है । रसोई वगेरह कार्य जो उसके गौण कार्योंमें है उन्हे ही लोग कारणरूप से गिनाते है ।

इसी प्रकारसे भगवान्का मुख्य स्वभाव कहो, मुख्यकार्य कहो, लीला-कहो जो कुछ कहो सो सब अपने स्वरूपका (आनन्दरूपको) दान करके जगत् का उद्धार करनामात्रहै । और भूभारक्षपण प्रभृति कार्य तो उनके स्वरूपमें ही रहते, और उनके अवतारके साथ बहिःप्रकट हुये संकर्षणादि व्यूहोंके, कार्य है ।

इसी लिये गीताभागवतमें अनेक श्लोकों के द्वारा व्यूहसहित साक्षात् पुरुषोत्तमके भिन्न भिन्न अवतार हेतु बताये गये है । यद्यपि सर्वत्र जगत् में जितने कार्य होतेहैं वे सब कार्य भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी ही-लीलाहै किन्तु (**परोक्षप्रिया हि वै देवाः**) श्रुतिके अनुसार भिन्न भिन्न रूप धारण करके ही भिन्न भिन्न कार्य (लीला) करना यह उनकास्वभावहै ।

अत एव श्रीकृष्णावतार में भी भगवान् ने भूभारक्षपण आदि कार्य व्यूहों के द्वारा किये और सर्वोद्धार कार्य अपने आपही किया । क्योंकि अन्यकार्य अन्य साध्यहैं पर निःसाधन जनोद्धार तो श्रीपुरुषोत्तमकी ही अनन्यसाध्य लीला है ।

रासलीलामें भी श्रीकृष्णने सर्वोद्धारकार्य कियाहै। कितनी ही श्रुतियोंमें, कितनी ही ऋषिरूपा गोपियों में, तथा अभिशप्तावाणीरूपा गोपियों में जो प्राकृतत्व था उस अपने आनन्दका प्रवेश करके अपना स्वरूप देदिया, और इस तरह उनका उद्धार किया है। यदि यह सम्भोग लीला न होती तो नित्यासिद्धा गोपियोंके साथ क्रीडा, श्रुतियों का वरदारन, ऋषियों की मनोरथ पूर्ति और प्राकृत अभिशप्तावाणी आदि का उद्धार आदि कार्य कैसे होते। इसलिये यह रासलीला श्रीकृष्णकी निर्दोष और आवश्यक लीलाहै यह बात सिद्ध होचुकी।

हरिः ओं शम्।

जायगी.

३)

” ” २)

” ” काशसहित ६)

” ” मे पूर्वा जस प्रमेय प्रकरणम् । २॥)

” ” उत्तरार्ध ” साधन ” १॥)

” ” ” ” फल ” १॥)

” ” ” सात्विक प्रमेय ” १॥)

” ” ” ” साधन ” १॥)

” ” ” ” फल ” १॥)

उत्सवप्रतान श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज कृत २)

श्रीवल्लभादिग्विजय भाषाटीका सहित ॥।)

श्रीवल्लभादिग्विजय गुजराती भाषामे ॥=

श्रीनवरत्न शुद्धाद्वैतमार्तण्डश्चभाषाटीका टिप्पणीसहित -)

कठोपनिषद्भाष्य अपूर्ण भारतमार्तण्डाविरचित, -।)

शुद्धाद्वैतमार्तण्ड गुजराती भाषा में)

नवरत्न मूलसहित हिन्दिभाषामें टीका टिप्पणीसहित -)

नवरत्न मूलसहित गुजराती भाषामे -)

श्रीनाथजीकी प्राकट्यवार्ता व्रजभाषामें ॥)

श्रीनाथजीकी प्राकट्यवार्ता गुजराती भाषा मे ॥)

वैष्णवोपयोगी संग्रह व्रजजभ्भासाहित -)

वैष्वोपयोगी संग्रह गुजराती भाषामें /

श्रीसर्वोत्तमस्तोत्र, संस्कृतटीकाद्वय ॥।)

” गुर्जरभाषाटीका ≡

” व्रजभाषाटीका ≡

कामाख्यदोष विवरण हिन्दीटीका -)

” गुजराती टीका -)

साहित्य वैभवम् ५)

टिप्पणी सम्वत १९८८—८९ की उत्सवनकी टीप -)

श्रीनाथपञ्चाङ्ग ।]

ठिकानो—श्रीगोवर्धन पुस्तकालय अथवा श्रीविद्याविभाग श्रीनाथद्वार।